सबलोग

वर्ष 5, अंक 02, फरवरी 2013

ISSN 2277-5897 SABLOG

सम्पादक

किशन कालजयी

सहायक सम्पादक

राजन अग्रवाल

पुखराज जाँगिड़

सम्पादकीय सलाहकार

आनन्द कुमार

सुबोध नारायण मालाकार

राम मेश्राम

मणीन्द्रनाथ ठाकुर

आनन्द प्रधान

सन्तोष कुमार शुक्ल

विशेष सम्पादकीय सहयोग

मंजु रानी सिंह

अखलाक 'आहन'

मीरा मिश्रा

गंगा सहाय मीणा

महाप्रबन्धक

श्याम सुन्दर

प्रबन्धक

तृप्ति पाण्डेय

सम्पादकीय सम्पर्क

एफ-3/78-79, सेक्टर-16

रोहिणी, दिल्ली-110089

फोन : 011-27891526

sablogmonthly@gmail.com

सदस्यता शुल्क

एक अंक 20 रुपये – वार्षिक : 200 रुपये

त्रैवार्षिक : 500 रुपये – आजीवन : 5000 रुपये

चेक या बैंक ड्राफ्ट सम्पादकीय पते पर 'संवेद फाउण्डेशन' के नाम भेजें स्वामी, सम्पादक, प्रकाशक व मुद्रक किशन कालजयी द्वारा बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089 से प्रकाशित और लक्ष्मी प्रिन्टर्स, 556 जीटी रोड शाहदरा दिल्ली-110032 से मुद्रित।

पत्रिका में प्रकाशित आलेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं, उनसे सम्पादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

पत्रिका से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिए न्यायक्षेत्र दिल्ली।

संवेद फाउण्डेशन का मासिक प्रकाशन

इस बार

मुनादी / तुममें पूरे इतिहास को जिन्दा होना है! : **सुधा अरोड़ा** 4

यौन हिंसा के विरोध में

बलात्कार, कानून और सामाजिक मनोविज्ञान : **मणीन्द्र नाथ ठाकुर** 6

सत्ता और समाज का क्रूर चेहरा : **प्रेमपाल शर्मा** 9

पितृसत्तात्मक सोच और सामूहिक आक्रोश : **अर्चना वर्मा** 12

मूलबिन्दु की खोज और स्थापना : **अशोक गुप्ता** 15

लोकतन्त्र की नयी उम्मीद : **आनन्द प्रधान** 17

खुद-मुख्तार होता आम जन : **अल्पना मिश्र** 21

सियासत का बदलता नजारा : **आदित्य निगम** 24

यकीनन, समाधान है साहस : **प्रफुल्ल कोलख्यान** 26

आन्दोलन भी करना है : **अरविन्द मोहन** 29

गुस्से का कारण, गुस्से की भीड़ और गुस्से का प्रबन्धन : **अनिल चमड़िया** 32

बुनियादी सुधार जरूरी : **गंगा सहाय मीणा** 35

असली दोषी कैसे सुधरे? : **वीरेन्द्र जैन** 38

चौका बरतन से बुद्धत्व तक : **मंजु रानी सिंह** 40

साक्षात्कार

'लोकतन्त्र के लिए इस्लाम को ठीक करना जरूरी'

कुलदीप नैयर से **किशन कालजयी** की बातचीत

प्रस्तुति : **रुचि आनन्द** 42

राज्य

हिमाचल प्रदेश / क्यों हारी भाजपा? : **रूपक कुमार शर्मा** 45

हरियाणा / किस पार्टी के कुलदीप बिश्नोई : **प्रदीप सिंह रावत** 47

स्तम्भ

क्रमभंग / पनीले विचार युग में आशिस नन्दी का भाग्य : **अपूर्वानन्द** 49

मुद्दा / मप्रासंगिकता का प्रश्न और प्रेमचन्द : **शैलेन्द्र कुमार त्रिपाठी** 52

दलित विमर्श / बाजार में दलित कहाँ? : **मोहनदास नैमिशराय** 55

साहित्य / धूमिल की कविताओं में स्त्री-विरोध : **शारदा बनर्जी** 58

कृषि / मौसम की मार से पिसती कृषि : **अतुल कुमार सिंह** 61

रपट / काम, करियर और सभ्यता पर सवाल : **पंकज शर्मा** 63

पुस्तक-समीक्षा / बचा रहेगा जीवन : **वेद प्रकाश सिंह** 66

आवरण एवं साज-सज्जा : क्वालिटी प्रिन्टर्स

16 दिसम्बर की बर्बर घटना ने जिस तरह से पूरे देश को उद्वेलित कर दिया था, वह आजाद भारत में पहली बार हुआ। अन्ततः जनाक्रोश के सामने सत्ता और सियासत के दाव नहीं चले, सरकार को झुकना पड़ा। न्यायमूर्त्ति जे.एस. वर्मा समिति की सिफारिशों से आगे बढ़कर सरकार ने बलात्कारियों के लिए फाँसी की सजा तय की (राष्ट्रपति का हस्ताक्षर होना बाकी है) है, लेकिन इसके लिए पीड़िता की मौत जरूरी है। फास्ट ट्रैक अदालत ने भी पाँचों आरोपियों को प्रथम दृष्टया दोषी माना है। सम्भव है इन अपराधियों को फाँसी मिल जाए।

लेकिन कानून बनाने और सजा दिलाने से ज्यादा जरूरी समाज के उस नजरिये को बदलना है जो औरतों की जिन्दगी में जहर घोलता है। उस नजरिये को समझने में सुधा अरोड़ा की यह कविता शायद काम आए इसलिए इस बार मुनादी में यही सही।

(किशन कालजयी)

तुममें पूरे इतिहास को जिन्दा होना है!

दामिनी!
जीना चाहती थीं तुम
कहा भी था तुमने बार-बार
दरिन्दों से चींथी हुई देह से जूझते हुए
मौत से लड़ती रही बारह दिन
कोमा में बार-बार जाती
लौट-लौट आती
कि शायद साँसे सँभल जायें...
आखिर सारी प्रार्थनाएँ अनसुनी रह गयीं
दुआओं में उठे हाथ थम गये
अपने जीवट की जलती मशाल छोड़ कर
देह से तुम चली गयी
पर हर जिन्दा देह में अमानत बन कर ढल गयी!

अब तुम हमेशा रहोगी
सत्ता के लिए चुनौती बनकर,
कानून के लिए नयी इबारत बनकर,
स्त्री के लिए बहादुरी की मिसाल बनकर,
कलंकित हुई इंसानियत पर सवाल बनकर,
सदियों से कुचली जा रही स्त्री का सम्मान बनकर!

तुम एक जीता जागता सुबूत हो दामिनी
कि अभी मरा नहीं है देश
कि अब भी खड़ा हो सकता है यह
दरिन्दगी और बलात्कार के खिलाफ
जहाँ लोकतन्त्र की दो तिहाई सदी
बीतने के बाद भी
सुनी नहीं जाती आधी दुनिया की आवाज!
तुम हर उस युवा में होगी
जो वहशीपन के खिलाफ
खड़े होते दिख जायेंगे आज भी
देश के हर छोटे-बड़े गाँव कस्बे में
जिन्दा होगी तुम हर एक लड़की के जज्बे में!

इतिहास बार-बार दोहराता है
हमें अपनी चूकें याद दिलाता है
और हमारा यह सभ्य समाज बार-बार उसे
भूल जाने की कवायद करवाता है।
अब तुममें जिन्दा होगी
1979 की गढ़चिरोली की मथुरा
चौदह से सोलह के बीच की वह आदिवासी लड़की,
जिसे अपनी उम्र तक ठीक से मालूम नहीं थी
लॉक अप में जिसके साथ हुआ बलात्कार
सुप्रीम कोर्ट ने हाईकोर्ट का बदला फैसला–
गणपत और तुकाराम बाइज्जत बरी कर दिये गये
सारे महिला आन्दोलन और नुक्कड़ नाटक धरे रह गये!

अब तुममें जिन्दा होगी
पति के साथ रात का शो देखकर लौटती
हैदराबाद की रमजा बी
कि जिसे पुलिस ने पकड़ा और सारी रात भोगा
कहा–''पर्दा नहीं किया था
मुँह खुला था, हमने सोचा वेश्या होगी!''
इसी पुलिस ने दूसरे दिन ही उसके पति की हत्या
और रमजा बी करार दी गयी वेश्या!

अब तुममें जिन्दा होगी माया त्यागी
मुरादाबाद की किसनवती
मेरठ की उषा धीमान
राजस्थान के भटेरी गाँव की भँवरी,

जिसके आरोपियों को सुसज्जित मंच पर
फूलमालाओं से नवाजा गया और लगाये गये नारे–
मूँछ कटी किसकी, नाक कटी किसकी, इज्जत लुटी किसकी
राजस्थान के भटेरी गाँव की!
महिला कार्यकर्ताएँ फिर अपने नारे बटोरतीं,
कटे बालों वाली होने का तमगा लिये घर लौट गयीं!

सुनो दामिनी,
इस बीच बीते पन्द्रह साल
लेकिन हमारे पास गिनती नहीं
कि कितनी लाख बेटियाँ और बहनें हुईं हलाल
आँकड़े जरूर मिल जायेंगे कहीं
और हर रोज आँकड़ों की तादाद बढ़ती ही रही...

दूर नहीं, अब लौटो पिछले साल
अब तुममें जिन्दा होगी
मालवणी मलाड़ की 14 साल की अस्माँ,
जिसे उठा ले गये पाँच दरिन्दे
खाने के नाम पर देते रहे उसे एक वड़ा पाव
और भोगते रहे उस मरती देह को लगातार
भूख से बेहाल होकर खाती रही
वड़ा पाव लिपटे अखबार की लुगदी
मिटटी, पत्थर और कपड़े की चिन्दियाँ!
बाल दिवस 14 नवम्बर 2011 को
अपने बालिका होने का कर्ज चुकाती
ली उसने आखिरी साँस!
क्या होगा पोस्ट मार्टम के इस खुलासे से
कि वह कागज और मिटी से पेट भरती रही
सच तो यह है कि अखबार में छपी उसकी तस्वीरें
हमारे चेहरों पर तमाचा जड़ती रहीं।

अब तुममें जिन्दा होगी
वे तमाम मथुरा, माया, उषा, किसनवती
मनोरमा, भँवरी, अस्माँ....
दूध के दाँत भी टूटे नहीं थे जिनके
वे बच्चियाँ
जिन्हें अपने लड़की होने की सजा का अहसास तक नहीं था...
वे तमाम नाबालिग लड़कियाँ
जिन्हें दुलारने वाले पिता चाचा भाई के हाथ ही
उनके लिए हथौड़े बन गये
किलकारियाँ चीखों में बदल गयीं।

हम आखिर करें भी तो क्या करें दामिनी,
चीखें तो इस समाज में कोई सुनना ही नहीं चाहता
रौंदी गयीं, कुचली गयीं बच्चियों की चीखें
नहीं चाहिए इस सभ्य समाज को
यह सभ्य समाज डिस्को में झूमता है
सेल्युलायड के परदे पर लहराता है
युवा स्त्री देहों के जुलूस फहराता है
मुन्नी बदनाम हुई पर ठुमके लगाता है
शीला की जवानी पर इतराकर दोहरा हुआ जाता है
और चिकनी चमेली को पास की खोली में ढूँढ़ता है
आखिर औरत की देह एक नुमाइश की चीज ही तो है !

हम उसी बेशर्म देश के बाशिन्दे हैं दामिनी
जहाँ संस्कृति के सबसे असरदार माध्यम में
स्त्री महज एक आइटम है
और आइटम सांग पर झूमती हैं पीढ़ियाँ!!

दामिनी!
उन लाखों हलाल की गयी बच्चियों में
तुम्हारा नाम एक संख्या बनकर नहीं रहेगा अब!
नहीं, तुम्हें संख्या बनने नहीं देंगे हम!
तुममें एक पूरे इतिहास को जिन्दा होना है!
वह इतिहास जिस पर तेज रफ्तार मेट्रो रेल दौड़ रही है
वह इतिहास जिसे चमकते फ्लाई ओवर के नीचे दफन कर दिया गया है!

इससे पहले कि जनता भूल जाये सोलह दिसम्बर की रात,
इससे पहले कि तुम्हारा जाना बन जाये एक हादसे की बात
इससे पहले कि सोनी सोरी की चीखें इतिहास बन जाएँ
इससे पहले कि चिनगारियाँ बुझ जाएँ...

हवा में झूलते अपने हाथों से तुम्हें देते हुए विदा
और सौंपते हुए इन आँखों की थोड़ी-सी नमी
ज्वालामुखी के लावे-सी उभर आई
इस देश की आत्मा की आवाज के साथ
अहद लेते हैं हम
कि चुप नहीं बैठेंगे अब
इस दबे ढके इतिहास के काले पन्ने फिर से खोलेंगे।
अब हम आँसुओं से नहीं, अपनी आँख के लहू से बोलेंगे!
हत्यारों और कातिलों की शिनाख्त से मुँह नहीं फेरेंगे!
अपने नारों को समेट सिरहाना नहीं बनाएँगे।
नये साल की आवभगत में गाना नहीं गाएँगे!

बस, अब और नहीं, और नहीं, और नहीं...
जैसे जारी है यह जंग, जारी रहेगी!

–सुधा अरोड़ा
+919757494505
sudhaarora@gmail.com

बलात्कार, कानून और सामाजिक मनोविज्ञान

मणीन्द्र नाथ ठाकुर

स्त्रियाँ तैयार होती हैं, सजती संवरती हैं, एक सुखद स्वानुभूति के लिए, स्वतन्त्रता को महसूस करने के लिए। पुरुष उसे अपनी कामुकता की स्वीकृति के रूप में देखता है। नारी सौन्दर्य की सराहना करना एक बात है और उसकी इच्छा के विरुद्ध उसके साथ सम्भोग की वासनात्मक विचार रखना दूसरी बात है।

पिछले कुछ दिनों में भारत के सामाजिक परिदृश्य में बहुत कुछ बदला हुआ नजर आ रहा है। चलती हुई बस में किसी लड़की के साथ बलात्कार और हत्या का प्रयास, न्याय और कानून के लिए उमड़ा हुआ युवा जन सैलाब और हिलती डुलती सरकार, यह सब कुछ इतनी जल्दी हुआ कि इस बदले हुए परिदृश्य के तह तक पहुँचने का समय नहीं मिल पाया। माहौल में इतनी गर्मी आ गयी कि जो कुछ चल रहा है उसका ठन्डे मन से विश्लेषण होना अभी बांकी है। इस घटनाक्रम से भारतीय समाजशास्त्रियों के लिए नये किस्म के प्रश्न खड़े हुए हैं।

सबसे पहला सवाल है कि बलात्कार जैसे जघन्य अपराध के पीछे क्या मानसिकता है? इस सवाल को हमें उन सब खबरों के साथ जोड़ कर देखना चाहिए जो इस घटना के बाद और इस विरोध के बावजूद देश के कोने-कोने से आ रही हैं। क्या इस तरह की घटनाओं के पीछे सामान्य कामुकता है? क्या समाज में पुरुष को अपनी कामेक्षा को आनन्दपूर्वक सन्तुष्ट करने की सम्भावनाओं की कमी के कारण एसा हो रहा है? या फिर बाजारीकरण के इस दौर में उपभोग की अन्य वस्तुओं की तरह काम का आनन्द खरीद फरोख्त की वस्तु मान ली गयी है और न मिलने पर लूट लेने की चीज हो गयी है? बाजार मनुष्य के विकारात्मक प्रवृत्तियों को जगा कर सामान बेचने से नहीं चूकता है और शायद इसलिए लोग कामेक्षा, वासना और अपराध में अन्तर भूलने लगे हैं।

काम एक सहज मानवीय प्रवृत्ति है। उम्र के अलग-अलग पड़ाव पर स्त्री-पुरुष के बीच के सम्बन्धों के मनोभावों के अभिव्यक्ति का सरल और सक्षम माध्यम है। जाति, धर्म और संस्कृति से परे यह शरीर और मन को एकीकृत कर एक एसा संवेग उत्पन्न करता है जिसकी बारम्बार अनुभूति के लिए मनुष्य प्रयासरत होता है। लेकिन इस प्रक्रिया में दुसरे मनुष्य का न केवल होना ही अनिवार्य है बल्कि उसके अन्दर भी यदि वैसा ही संवेग हो तो अनुभूति के चरम तक पहुंचना सम्भव होता है। हर समाज इस वेगपूर्ण प्रवृति के संचालन के लिए नैतिकता का सृजन करता है। ताकि

लेखक समाजशास्त्री हैं और जेएनयू में पढ़ाते हैं।
manindrat@gmail.com
+919968406430

एक पक्षीय संवेग कहीं इतना प्रबल न हो जाए कि दूसरे पक्ष के लिए मुश्किल हो जाए। इस नैतिकता को मजबूत करने के लिए तरह-तरह के सामाजिक सम्बन्धों के बन्धनों का निर्माण किया जाता है। ये नैतिकता, ये सामाजिक सम्बन्ध, ये बन्धन तब तक ही चल पाते हैं जब तक मनुष्य अपने समाज के साथ गहराई से जुड़ा होता है। यदि समाज की पकड़ कमजोर हो जाए, मनुष्य समाज के प्रति आस्था नहीं रखता हो, यदि वह समाज के प्रति आभारी न हो तो फिर ये सारे बन्धन भी कमजोर हो जाते हैं। ये सम्बन्ध भी झूठे हो जाते हैं। एसे में यदि बार-बार कामेक्षा जैसी प्रबल प्रवृत्ति को बाजार के लिए उपयोग में लाया जाये और साथ में समाज के बंधन कमजोर हों तो स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में संवेग की जगह वासनात्मक राग होना स्वाभाविक है।

जिस समाज में हर अच्छी बुरी फिल्म में 'आइटम सोंग' के बिना काम चलना मुश्किल हो, जहाँ किसी फिल्म में बलात्कार का सीन देखने के लिए भीड़ उमड़ पड़े, जहाँ बलात्कार और अपराध की कहानियों की पत्रिका का नाम 'मनोहर कहानियाँ' हो, जहाँ अपराध को सनसनी बनाकर बेचा जा रहा हो, उस समाज का काम के प्रति रवैये का हम अन्दाजा लगा सकते हैं। काम के प्रति इस रवैये के लिए जिम्मेदार जितना पुरुषवादी मनोवृत्ति है उससे कम हिस्सेदारी हमारे टूटते सामाजिक सम्बन्ध, बाजार में सामान बेचने के लिए मनुष्य के इन कमजोरियों का दूरुपयोग और स्त्री पुरुष सम्बन्धों में खुलेपन की कमी भी नहीं है।

लेकिन बलात्कार सम्बन्धित अपराध का मनोविज्ञान इतने भर से समझना कठिन है। इसके पीछे आज के युग का बढ़ता हुआ मानसिक सन्ताप भी है। अपराध हमारी नियति होती जा रही है। हर व्यक्ति असन्तुष्ट है, सुख का अर्थ सुख के साधनों को जमा करना ज्यादा हो गया है। सुख के साधनों की खोज में साधन ही साध्य हो जाता है। और साधनों के प्राप्ति की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है, इसलिए हर कोई फिर असन्तुष्ट ही रहता है। यदि असन्तुष्टि ज्यादा हो और हर मुकाम पर अपने कमजोर होने का एहसास होता रहे तो फिर एक तरह से नपुंसक होने की अनुभूति होने लगती है। और इसी नपुंसकता की मानसिकता से निजात पाने का एक तरीका है अपराध। इसलिए सामूहिक बलात्कार और हत्या का सम्बन्ध कामेक्षा से कम और अपराध की इस मानसिकता से ज्यादा है। टूटते सामजिक सम्बन्ध और समाज में नारी की कमजोर स्थिति के कारण उन्हें निशाना बनाना आसान हो जाता है।

स्त्री को इस अपराध में एक आसान निशाना बनाने के पीछे सामान्यतया नैतिकता का एक तर्क गढ़ लिया जाता है। इस नयी आर्थिक नीति के दौर में पश्चिम का प्रभाव बढ़ा है। पश्चिम में नारी की स्वतन्त्रता का परचम बहुत पहले लहराया है। इस स्वतन्त्रता से उनमें अपने होने का एहसास होने लगा है। भारतीय समाज में नारी की स्थिति मजबूत होने का दावा करने वालों को यह समझ नहीं आता है कि उनकी स्वतन्त्रता अच्छे समाज के लिए आवश्यक शर्त है। और भारतीय संस्कृति की बात करनेवालों को शायद यह ज्ञात नहीं है कि इस संकृति में नारी और पुरुष के बीच के सम्बन्धों की समझ का आधार सोच है कि उन दोनों के मिलन से ही पूर्णता की प्राप्ति हो सकती है। एक पूर्ण पुरुष और पूर्ण नारी के संयोग से ही सुखी संसार का होना सम्भव है। और एक पूर्ण नारी वही है जो पूर्णत: स्वतन्त्र हो, जिसे अपने शरीर और अपने भविष्य के बारे में निर्णय लेने का पूरा अधिकार हो। यदि इस स्वतन्त्रता के बाद सम्बन्धों के दायरे में वह बंधना चाहती हो तो फिर वह बंधन नहीं होगा। मूलत: विवाह का बंधन एक दूसरे को पूर्णता की अनुभूति देने के लिए बनाया गया सम्बन्ध है। यदि उसमें एक पक्ष भी घुटन अनुभव करे तो पूर्णता की अनुभूति सम्भव नहीं है। और यदि इस अनुभूति का आभाव हो तो विवाह का कोई मतलब नहीं होता है। इस सम्बन्ध से बाहर निकलना ही नैतिक है। इस पूर्णता के आभाव में भी सम्बन्ध को बनाये रखने का जो तर्क आज का पुरुषवादी समाज गढ़ता है, भारतीय संस्कृति के मापदंड पर खरा नहीं उतरता है। समाज की बदलती परिस्थिति के अनुसार इस पूर्णता के एहसास के लिए नये सिरे से संस्थाओं की नैतिकता पर विमर्श करना होगा। इस नये नैतिकता की खोज के लिए आवश्यक यह भी है कि पश्चिम के अराजक काम उन्माद से बचा जाए।

पश्चिम की इस संकृति का दुष्प्रभाव सही मायनों में पुरुषों पर ज्यादा पड़ रहा है। पश्चिम में काम को केवल शारीरिक भूख मानाने का चलन है। कोई पुरुष जब यह कहता है कि जैसे शरीर को रोज खाने की जरुरत है वैसे ही उसे काम की जरुरत भी है तो यह स्पष्ट होता है कि यह काम को केवल शरीर की आवश्यकता के रूप में समझता है, उसे मन से जोड़ना भूल जाता है। यह शरीर और मन को अलग-अलग समझने की भूल करने वाले देकार्त के दर्शन का दुष्प्रभाव है। भारतीय दर्शन में काम एक देवता के रूप में पूजनीय है क्योंकि वह हमारे होने की अनुभूति को प्रदान करता है। यदि पुरुष या स्त्री उसे केवल मनोरंजन का साधन या शरीर की भूख मान ले तो समस्या यहाँ होती है। एसा लगता है कि भारतीय पुरुष काम को एक उपभोग की वस्तु ही मानने लगे हैं, लेकिन स्त्रियों के लिए अभी भी यह एक खास किस्म का सम्बन्ध है जिसमें बिना भावनात्मक स्तर पर उतरे संलग्न होना सम्भव नहीं है। अब महिलाएँ इस भेद को समझने भी लगी हैं यह भी सम्भव हो गया है कि बलात्पूर्वक इस सम्बन्ध में उतरने का विरोध भी दर्ज कर सकें।

बहुत से पुरुष इस अन्तर को शायद समझने में सक्षम नहीं हैं और इसलिए कम कपड़ों में दिखनेवाली हर स्त्री उन्हें सम्भोग के लिए उपलब्ध वस्तु के रूप में नजर आने लगती है। स्त्रियाँ तैयार होती हैं, सजती संवरती हैं, एक सुखद स्वानुभूति के लिए, स्वतन्त्रता को महसूस करने के लिए। पुरुष उसे अपनी कामुकता की स्वीकृति के रूप में देखता है। नारी सौन्दर्य की सराहना करना एक बात है और उसकी इच्छा के विरुद्ध उसके साथ सम्भोग की वासनात्मक विचार रखना दूसरी बात है। हाल के दिनों में जिस तरह से महिलाओं में अपने शरीर और उसमें स्थित काम की अनुभूतियों को लेकर चेतना आयी है पुरुषप्रधान समाज उसे समझ पाने में असफल रहा है। इसलिए केवल महानगरों में ही नहीं और केवल इंडिया में नहीं बल्कि गाँवों में

भी और भारत में भी पिछले वर्षों में बलात्कार की घटनाएँ बढ़ी हैं। बिहार जहाँ अपहरण तो होता था लेकिन बलात्कार कम था वहाँ भी गाँव-गाँव में बलात्कार और हत्या की घटनाएँ सुनने को मिल रही हैं। सबसे खतरनाक बात यह है कि पहले जहाँ एक बार प्रेम के रिश्ते में होने के बाद विश्वास का रिश्ता होता था और कई बार इन सम्बन्धों में त्याग और बलिदान के उदाहरण मिलते थे। अब की हालत यह है कि इस मायने में कोई भी सम्बन्ध विश्वसनीय नहीं रह गया है। हालाँकि एसा केवल पुरुष के साथ नहीं है महिलाएँ भी उतनी ही अविश्वसनीय होती जान पड़ती हैं। लेकिन इस अविश्वसनीयता का दुष्प्रभाव स्त्रियों पर ज्यादा पड़ रहा है। उनकी माँ बनाने की क्षमता जो उनके लिए प्रकृति प्रदत्त अतुल शक्ति है उनके खिलाफ होता जाता है। माँ बनने से उनको जिस पूर्णता की अनुभूति होती थी उन्हें कई बार अवांछित लगने लगा है। उसे अपनी स्वतन्त्रता के विरुद्ध देखने लगी हैं। और परिवार से बाहर शारीरिक सम्बन्धों का चलन भी बढ़ रहा है। परिवार से बाहर के पुरुषों से मिलने की सम्भावनाएँ बढ़ रही हैं। विवाहेतर सम्बन्धों का चलन भी बढ़ रहा है। एसा केवल महानगरों में ही नहीं हो रहा है। छोटे शहरों में, कस्बों में, गावों तक में एसे सम्बन्धों का होना कोई अनहोनी नहीं रह गया है। शायद काम से सम्बन्धित नैतिकता बदल रही है। इस बदलती नैतिकता के दौर में परिवार को, बच्चों को अवांछित माने जाने की सम्भावनाएँ हो सकती हैं। लेकिन इसका कुप्रभाव यह है कि पुरुष मानस की कामुकता, खास कर यदि उसका संयोग नशे के साथ भी हो जाए, बलात्कार की प्रवृति में बदल जा सकती है।

यदि भारतीय समाज ने इस बदलते परिदृश्य के अनुकूल नैतिकता का निर्माण नहीं किया या फिर भारतीय संस्कृति के सामाजिक सम्बन्धों के लिए नये और ठोस तर्क नहीं गढ़ा तो संकट और भी गहराएगा। एसे में कानून का बनाया जाना कितना कारगर होगा और पुलिस को जबाबदेह बना कर कितना कुछ किया जा सकता है सोचने की बात है। पश्चिम में जिसे 'लक्ज़' कहा जाता है उसकी कोई परम्परा हमारे यहाँ नहीं है। इसकी जड़ हमारे समाज में गहरी नहीं है, बल्कि यह केवल औपनिवेशिक संस्कृति की देन है। हमारे समाज में कानून की जगह नैतिकता का ज्यादा महत्त्व था। जिसका एक तार्किक आधार भी था और उसकी मान्यता समाज में इतनी ज्यादा थी कि लोग उसे मानने के लिए मानसिक रूप से बाध्य होते थे। पश्चिम में लॉ को ही नैतिक माना जाता था। क्योंकि राज्य नैतिक था। उदाहरण के लिए सुकरात किसी कानून में परिवर्तन तो चाहता था लेकिन जब तक उसमें परिवर्तन न हो जाये, उस कानून को मानना अपना नैतिक कर्तव्य मानता था। भारतीय समाज में औपनिवेशिक राज्य ने कानून का निर्माण करना शुरू किया और उस राज्य को जनता में कोई सम्मान नहीं था। नतीजतन कानून के प्रति हमारा रवैया सम्मान का नहीं बल्कि डर का है। यहाँ तक कि मोटर बाइक चलाते समय हेलमेट पहने का नियम जो शुद्ध रूप से आदमी की सुरक्षा के लिए है उसे मनवाने के लिए भी राज्य को पुलिस का प्रयोग करना पड़ता है। एक गाना कभी बहुत मशहूर हुआ था जिसकी पंक्ति लॉ के बारे में हमारे दृष्टिकोण को स्पष्ट करती है : 'जबसे सरकार ने नशाबंदी तोड़ दी मानो या न मानो मैं ने पीनी छोड़ दी'।

भय और शक पर टिके कानून से बलात्कार जैसी घटनाओं को कहाँ तक रोक पाना सम्भव होगा कहना कठिन है। जिस तरह की नृशंस घटनाओं की सूचनाएँ अब मिल रही हैं उसे देख कर तो यही लगता है कि इस तरह के अपराध में संलग्न होनेवाले लोगों को कानून के प्रति कोई सम्मान नहीं है। और एसे लोग जिनके जीवन और मौत के बीच का फासला कम हो तो मौत के खौफ के आधार पर कानून का शासन स्थापित करना भी मुश्किल है। सामान्य लोगों के लिए तो शायद कानून का डर कानून को सम्मानीय बना भी दे, लेकिन जिन्हें मौत से डर ही न लगे तो उनके लिए क्या करें। इसलिए कानून की अपने सीमाएँ हैं, जो भूमिका समाज के लिए मान्य है कानून उसे ठीक से नहीं निभा सकता है। इसका मतलब यह नहीं है कि कानून की जरूरत नहीं है। इसका मतलब केवल इतना है कि कानून एसी समस्याओं से निजात पाने के लिए यथेष्ठ नहीं है। हमें अपने समाज के स्वरूप पर पुनः चिन्तन करना होगा। एसे समाज की परिकल्पना करनी होगी जिसमें स्वतन्त्रता तो हो लेकिन अराजकता नहीं हो, जहाँ सामाजिक कानून सक्षम भी हो और उसमें निरन्तर परिवर्तन की सम्भावना भी हो। राज्य की भूमिका कम हो ताकि उसकी शक्ति के दुरूपयोग की सम्भावनाएँ भी कम हो। एक सहभागी समाज में ही यह सम्भव है कि लोग दूसरों का सम्मान करें, उनके सम्मान को महत्त्व दें। सबसे बड़ी समस्या यह है कि व्यक्तिवाद और पूँजीवाद के इस दौर में इस तरह के समाज की कल्पना कैसे की जाए।

❑

vkoj.k&dFkk

सत्ता और समाज का क्रूर चेहरा

प्रेमपाल शर्मा

ज्यादातर मामलों में पुलिस वालों को दोषी करार दिया जाता है। यह सरासर गलत है। पुलिस उसी समाज का हिस्सा हैं जहाँ बलात्कारी पैदा होते हैं और जो समाज वोट के दम पर नेताओं को चुनते हैं। पुलिस की चूक और ज्यादतियाँ तो सामने आती हैं लेकिन क्या उस बृहत्तर समाज को माफ किया जा सकता है जो गुस्से के बावजूद भी टुकुर-टुकुर देखता रहता है।

दामिनी कांड ने आजादी के बाद की सत्ता के नाटक की सारी कलई खोल दी है। रोज एक परत खुलती है। इन नृशंस कृत्यों के बावजूद भी राष्ट्रपति का बेटा विरोध प्रदर्शन का यह कहकर मजाक उड़ाता है कि यह सब रंगे-पुते लोगों की नौटंकी है। एक और नेता कहता है कि लड़कियाँ बाहर निकलती ही क्यों हैं? ऊपर से यह नमक लगाते हुए कि आजादी का मतलब सड़क पर घूमना नहीं है। कुछ दिनों पहले एक और नेता और हरियाणा की खाप पंचायतों ने कहा था कि इनकी शादी की उम्र कम कर देनी चाहिए। एक और धर्म का नुमाइंदा कहता है कि चालीस वर्ष से कम उम्र की महिलाएँ बाजार अकेली न जाएँ। एक और संगठन बेलेटाइन-डे पर लड़कियों के साथ बदसलूकी करता है। कश्मीर से कन्या कुमारी तक शायद ही किसी पार्टी का दामन साफ हो। इन्हीं को हम लोकतन्त्र का रखवाला कहते हैं। संसद और विधायिकाएँ- कानून बनाने का अधिकार इन्हीं को दे रखा है। इस कांड की रोशनी में आप अन्दाजा लगा सकते हैं कि जो कानून हैं कितना तो उन पर अमल होगा और सत्ता के ऐसे नुमांइदों के रहते कौन-सा कानून भविष्य में बनेगा। दुनिया का तथाकथित सबसे बड़ा लोकतन्त्र जंगलराज की तरफ धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है।

दिल्ली से लेकर मणिपुर और तमिलनाडु तक सड़कों पर उतरे नौजवानों की दाद देनी चाहिए कि वे एकजुट, निर्भय होकर सड़कों पर उतरे। दुनिया भर में बदलाव तभी आता है जब यह पीढ़ी सड़कों पर उतरती है। आप इनकी मोमबत्तियों की मजाक न उड़ायें। ऐसा न हो कि इनकी मोमबत्तियों का लौ छूते ही सत्ता भस्म हो जाएं। अच्छी बात यह रही कि अभी तक पूरा विरोध और प्रदर्शन अहिंसक रहा है। एक-आध छिट-पुट हुई घटनाओं को छोड़कर तन्त्र, उसका मीडिया या सत्ता के भोंपू बुद्धिजीवियों ने हर बार की तरह ऐसे विरोध, प्रदर्शन को कभी मध्य वर्ग के नाम पर खारिज करना चाहा तो कभी जाति, धर्म की अपनी विकृत मानसिकता के तहत नुमाइन्दगी के आधार पर।

बार-बार उंगली सत्ता के दोगले बेईमान

लेखक कथाकार और हिन्दी समाज की सांस्कृतिक जटिलताओं के सूक्ष्म पर्यवेक्षक हैं।
+919717644643

चरित्र की तरफ उठती है। अगर सत्ता ईमानदारी होती तो लड़की को सिंगापुर भेजने की नौटंकी न करती और न रोज-रोज बयान बदलती। बेईमान, झूठी सत्ता सबसे कायर भी होती है। इसीलिए कई दिन तक जन्तर-मन्तर के आसपास मैट्रो बन्द रही। धारा 144 लगा दी गयी। लेकिन नौजवानों का गुस्सा कि मुख्यमंत्री पुलिस की निगरानी में ही वहाँ से निकल पायीं। ज्याादातर मामलों में पुलिस वालों को दोषी करार दिया जाता है। यह सरासर गलत है। पुलिस उसी समाज का हिस्सा हैं जहाँ बलात्कारी पैदा होते हैं और जो समाज वोट के दम पर नेताओं को चुनते हैं। पुलिस की चूक और ज्यादतियाँ तो सामने आती हैं लेकिन क्या उस बृहत्तर समाज को माफ किया जा सकता है जो गुस्से के बावजूद भी टुकुर-टुकुर देखता रहता है। कई घण्टों तक इतनी बड़ी बस दिल्ली की सड़कों पर घूमती रही यह सरासर पुलिस की चूक थी। लेकिन जहाँ बस दामिनी को फैंक कर गयी थी वहाँ भी बीस-तीस लोग खड़े थे। उन्होंने क्या किया? क्यान समाज का कोई दायित्व नहीं होता? क्या हमारे आस-पास ऐसा रोज नहीं हो रहा? क्या केवल कानून बनाने से समाधान हो जाएगा?

ऐसे किसी प्रश्न पर ठहरकर सोचें तो समाज सबसे महत्त्वपूर्ण घटक है। क्या वर्षो से हम नहीं सुनते आ रहे कि दिल्ली और उसके आसपास के समाज में लड़कियाँ या महिलाएँ सबसे ज्यादा असुरक्षित हैं। सैंकड़ों दास्तान महिलाओं की रोज अखबारों में भरी रहती हैं। शाम, अँधेरा होते ही उनके चेहरों पर डर पुत जाता है। देश के दूसरे शहर भी पूरी तरह मुक्त न हों लेकिन देश की राजधानी दिल्ली सबसे ज्यादा असुरक्षित है। और सत्ता के नुमाइन्दे कहते हैं कि ऐसे विरोध प्रदर्शन से देश की तस्वीर विदेशों में गिरेगी। कितनी चिन्ता है देश की तस्वीर की इन नेताओं को! संसद में हाथापाई, माईक लेकर एक-दूसरे को मारना, लगातार चलने वाले बायकाट? क्या यह सब देश की तस्वीार को बेहतर बनाते हैं?

हम इस मोड़ तक क्या इसलिए नहीं पहुँचे कि हमारी विधायिकाएँ और संसद में लगातार ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती रही हैं जिनके हाथ खुद ऐसे अपराधों से रंगे हुऐ हैं। उनके खिलाफ तो पुलिस में एफ.आई. आर. तक दर्ज नहीं की जा सकती और जब कोई अरविन्द केजरीवाल या अन्ना हजारे सत्ता के नुमाइन्दों के खिलाफ आवाज भी उठाता है तो सत्ता अपने मीडिया-तन्त्र या साठ साल से अपने पाले हुए बुद्धिजीवियों की मदद से उसे भी खारिज कर देती है। इस पूरे प्रकरण पर उन बुद्धिजीवियों की भी कलई कम नहीं खुली जो साम्प्रदायिक विरोध के नाम पर एक नाटक रचता और शामिल होता हुआ ऐसी सत्ताओं के सहारे जिन्दा हैं। इन स्थितियों के लिये जिम्मेदार सत्ता के बराबर ही बुद्धिजीवी भी हैं। विशेषकर हिन्दी पटी के क्योंकि बलात्कार की ज्याादातर ये घटनाएँ हिन्दी क्षेत्रों में हैं। घूंघट और बुरका, लिंग अनुपात, स्त्रियों पर अत्याचार सभी में ये क्षेत्र देश को शर्मिंदा कर रहे हैं। यहाँ इस क्षेत्र के पत्रकार, लेखकों का काम जागरूकता पैदा करना था लेकिन वे चंद विज्ञापनों, कमेटी के सदस्य या दूसरे प्रलोभनों में इन प्रश्नों से बचकर निकलते रहे हैं। अचानक नहीं है कि जब पूरे देश के नौजवान कई तरह के गुस्से से बजबजाते बिना किसी राजनीतिक संरक्षण के सड़कों पर उतर रहे हैं। हिन्दी का ज्यादातर लेखक समुदाय अपनी चुप्पी से सत्ता के साथ खड़ा दिखता है।

दामिनी कांड में जो बर्बरता बरती गयी उसके लिए कोई भी सजा कम है और उसी अनुपात में पुलिस व्यवस्था को भी सजा मिलनी चाहिए। क्यों कि इन्हीं अपराधों को रोकने के लिए तो पुलिस को उन्हें नौकरी मिली हैं और आप मेरे थाने-तेरे थाने की बहस में उलझे हैं। संवेदन शून्यता की बर्बर मिसाल। हालाँकि वह समाज भी कम अपराधी नहीं है विशेषकर वह अमीर बड़ी-बड़ी कारों वाले, जो घायलों की लाख गुहार लगाने के बावजूद भी तमाशायी बनते और जाते रहे। मगर इस सन्दर्भ में चारों तरफ से गरियाये जा रहे पुलिस के सिपाहियों की सहानुभूति में दो शब्द जरूरी हैं।

रात में डयूटी कर रहे पी.सी.आर. वैन के सिपाही भी बताते हैं कि कई बार तो लगातार अड़तालीस घण्टे की ड्यूटी देनी पड़ती है। क्या हमने इनकी इन कठिन स्थितियों की तरफ सोचा जो धीरे-धीरे इन्हें अमानवीय बनाती जाती हैं? आपने अखबारों में पढ़ा होगा कि झारखंड, छत्तीसगढ़ और दूसरे नक्सल प्रभावित क्षेत्रों में तैनात अर्धसैनिक बलों के हजारों जवान इन्हीं स्थितियों से भागकर स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति ले रहे हैं।

मुझे नहीं याद कि हमारे सैंकड़ों दोस्तों में से किसी का बेटा-बेटी पुलिस या अर्धसैनिक बल में कांस्टीबल की नौकरी में भर्ती हुआ हो। वे पत्रकार, सेक्रेटरी, प्रोफेसर, सम्पादक, एन.जी.ओ. या सरकार के किसी भी पद पर जाति, धर्म के आधार पर अधिकार मांगते नजर आएँगे। पुलिस या सेना के इन छोटे पदों पर कतई नहीं।

कई पुलिस आयोगों की बड़ी-बड़ी सिफारिशों के बावजूद भी इनकी बुनियादी सुविधाओं और नौकरी में प्रोन्नीति आदि के मामले पर शायद ही कोई ध्यान दिया गया है। तीस-पैंतीस साल पहले उत्तर प्रदेश की पुलिस की नौकरी में एक मित्र ने सब इंस्पेक्टर की नौकरी शुरू की थी। मेधावी, स्वस्थ नौजवान था जिसे 1972 में 26 जनवरी की परेड में शामिल होने के लिए चुना गया था। 1978 में नौकरी शुरू होने के वक्ते भी वह सब-इंस्पेक्टर था और आज भी। उसकी नौकरी पूरे उत्तर प्रदेश में गाजियाबाद से गाजीपुर तक घूमती रही है। बच्चे कभी गाँव में, कभी साथ। बच्चों की पढ़ाई भी बिखरी-बिखरी। उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों की दुर्व्यवस्था में प्रोन्नातियाँ और दूसरे मसले जाति और धर्म पर ज्यादा निर्धारित होते हैं बजाए किसी वस्तुनिष्ठ परीक्षा या पैमाने के।

मौजूदा भड़कते विमर्श में यदि इस पक्ष पर ध्यान नहीं दिया गया तो हम वहीं खड़े रहेंगे जहाँ सौ साल पहले थे। पुलिस है तो आखिर इसी समाज का हिस्सा। उसी का आईना।

प्रश्न है कि आगे का रास्ता क्या हो? आगे का रास्ता निकलेगा उस समाज, उस शिक्षा से जो जन्म से ही लड़के-लड़कियों के भेद के खिलाफ हो। यह एक स्वप्न नहीं हकीकत है। सौ-दो सौ साल पहले यूरोप, अमेरिका में भी स्त्रियों को वह बराबरी नहीं थी। धर्म से जैसे-जैसे यूरोप को मुक्ति मिलती गयी स्त्रियाँ बराबरी के अपने अधिकार प्राप्त

करती गयीं। हमारी शिक्षा में हमें उस धर्म से मुक्ति पानी होगी जो तरह-तरह के श्लोकों और आयतों के बूते पहले तो लड़कियों को पैदा ही नहीं होने देता और हो भी जाएँ तो न वे अपनी संख्या के अनुपात में स्कूल में होती, न सरकार में, न संसद में। वे बराबरी की माँग करें तो उनकी देह और कपड़ों के आधार पर समाज का कट्टरपन्थी तबका मजाक उड़ाता है। क्या मौजूदा भारत की स्त्री की स्थिति ऐसी है जिसे इक्कीसवीं सदी का भारत कहा जा सके। हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्म इतने क्रूर और अमानवीय हैं कि औरत इनके बोझ से कभी मुक्ति नहीं पा सकती। स्त्री की मुक्ति इन धर्मों की जकड़न से बाहर ही सम्भव है। धर्म, जाति से मुक्ति इस देश के गरीब वंचितों को भी मुक्ति दिलाएगी।

कुछ कदम तुरन्त शिक्षा के जरिए उठाने होंगे–सबसे पहले स्कूल पाठ्यक्रम की किताबों को देश भर में जाँचा परखा जाए कि वे अनजाने में भी लड़की-लड़के का भेद-भाव न करें और न उन बातों, रीति-रिवाजों जैसे करवा चौथ या दूसरे स्त्री केन्द्रित व्रतों आदि को बढ़ावा न दें जो सदा के लिये उन्हें दोयम या निचले पायदान पर खड़ा करते हैं। एन.सी.ई.आर.टी. का नया पाठ्यक्रम संकेत में बहुत संवेदनशीलता से बराबरी की बात करता है। यदि इन्हीं किताबों को भी अनिवार्य रूप से लागू कर दिया जाये तो अगले पाँच बरस में अपेक्षित परिणाम मिल सकते हैं। एन.सी.ई.आर.टी. एक राष्ट्रीय शैक्षिक संस्था है। अतः इस पाठ्यक्रम को कड़ाई से शिक्षा की हर संस्था-सरस्वती, शिशु मन्दिर, मदरसे से लेकर सभी सरकारी निजी स्कूलों में राष्ट्रीय हित में लागू किया जा सकता है।

ऐसा ही दूसरा कदम फिल्मों की पटकथा, आइटम गीत आदि की समीक्षा है। मनोरंजन के नाम पर स्त्री को एक आइटम, वस्तु के रूप में पेश करना अपराध की श्रेणी में शामिल होना चाहिए।

दामिनी कांड सत्ता के साथ-साथ भारतीय समाज के क्रूर चेहरे का भी आईना है और इसे तुरन्त हर स्तर पर बदलने की जरूरत है।

❑

स्त्री-विमर्श आक्रामक नहीं सृजनात्मक

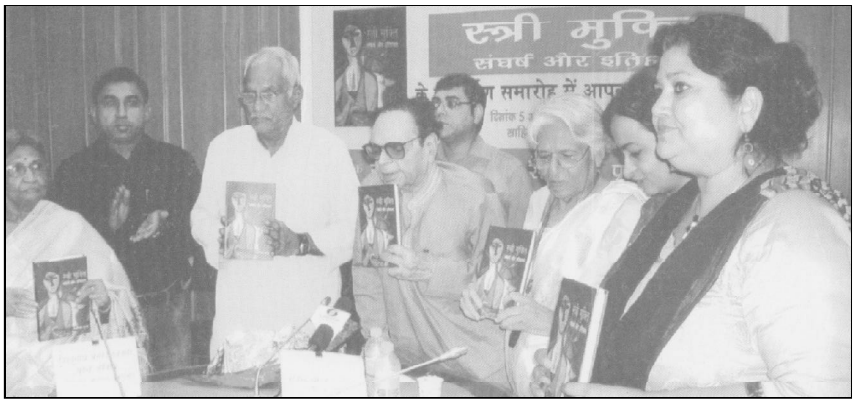

'रमणिका गुप्ता जो लिखती और कहती हैं उसमें विश्वसनीयता दिखाई पड़ती है। वह लेखक होने के साथ-साथ एक्टिविस्ट की भूमिका में भी हैं। रमणिका जी जो मुद्दे उठाती हैं वे जमीन से जुड़े होते हैं। उनका महत्त्वपूर्ण योगदान इसलिए भी है कि उन्होंने आदिवासी व पूर्वोतर की स्त्रियों की समस्याओं को अपने लेखन-चिन्तन के केन्द्र में रखा। उनका स्त्री-विमर्श आक्रमक नहीं सृजनात्मक है।' ये बातें साहित्य अकादमी सभागार में रमणिका फाउंडेशन और सामयिक प्रकाशन के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित 'स्त्री-मुक्ति-संघर्ष और इतिहास' के लोकार्पण समारोह में सुप्रसिद्ध आलोचक निर्मला जैन ने कही। अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में राजेन्द्र यादव ने कहा कि रमणिका जी में अपार ऊर्जा देखकर मैं स्तब्ध रह जाता हूँ। हो सकता है अपने लेखन के जरिए स्त्री-विमर्श पुरुषों ने शुरू किया हो लेकिन जब इतनी बड़ी संख्या में स्त्रियाँ अपना सच लिखने लगी हैं तो हमारा लेखन बनावटी लगता है। समारोह के मुख्य अतिथि विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने कहा–रमणिका जी की भावना से मैं सौ फीसदी सहमत हूँ। इनकी कोई बात भी अतार्किक नहीं है। स्त्री के मन को बदलना ही होगा क्योंकि पुरुष सौन्दर्य के जिन मानदण्डों को पसन्द करते हैं औरत की भी कसौटी वही है। दुर्भाग्यवश स्त्रियों को हमने आज तक सभी शक्तियों से वंचित रखा है।

सुपरिचित आलोचक-कवयित्री अर्चना वर्मा ने कहा–'रमणिका जी ने जीवन का बड़ा हिस्सा विपक्ष की राजनीति में बिताया है, अब भी वह कर्मवादी यानी एक्टिविस्ट हैं। वह चुनौती और ललकार की भाषा बोलना जानती होंगी लेकिन उसे उन्होंने राजनीतिक संघर्ष के खाते में जमा रखा है। स्त्री-विमर्श के इलाके में वे संवाद और सम्प्रेषण की भाषा का चुनाव करती हैं क्योंकि उनका मानना है कि स्त्री-विमर्श का गंतव्य एक अधिक समतामूलक समाज और सन्तुलित सम्बन्धों की रचना है। उपयुक्त संवाद और सम्प्रेषण के बिना यथोचित जानकारी के अभाव में पुरुष के मन में आशंका और आक्रामकता का जन्मा होता है उनकी यह किताब इसी जरूरत से जन्म लेती है।

पत्रकार गीताश्री ने कहा–''रमणिका जी की किताब 'स्त्री-मुक्ति संघर्ष और इतिहास' किसी सात्वना की तरह हमारे सामन आती है। स्त्री को लेकर स्त्री के द्वारा लिखा जाना–इसको जानने के लिए हमें अपने समय को भी देखना चाहिए।

रमणिका गुप्ता ने मध्यम-वर्ग व उच्च-वर्ग की तथाकथित नैतिकता पर सवाल उठाते हुए कहा–''विवाह और परिवार उच्च-मध्य वर्ग के चोंचले हैं। जिन्हें हम निम्नवर्गीय समात मानते हैं, उन्हें विवाह करने-तोड़ने की छूट है। साथ ही कई समाजों में बिनब्याही माँ की भी सामाजिक स्वीकृति है।

सामयिक प्रकाशन के महेश भारद्वाज ने कहा कि मैंने स्त्री-विमर्श शृंखला में अब तक 48 किताबें छापी हैं, मगर रमणिका जी के बिना यह शृंखला अधूरी थी। इस कार्यक्रम में कैलाश वाजपेयी, देवेन्द्र चौबे, गोपेश्वर सिंह, विवेक मिश्र सहित कई लेखक-पत्रकार भी उपस्थित थे। कार्यक्रम का संचालन अजय नावरिया ने किया।

प्रस्तुति :**शिखा गुप्ता**

पितृसत्तात्मक सोच और सामूहिक आक्रोश

अर्चना वर्मा

सामूहिक आक्रोश और सक्रिय प्रतिरोध के लिये सोशल मीडिया के बेहद कारगर होने का प्रमाण मुद्दों पर एकजुट होकर सड़कों पर उमड़ आता जनसैलाब है। सोशल मीडिया इसे सम्भव करता है और सामान्य मीडिया अपने संचारी स्वभाव से पूरे देशकाल को उसकी उपस्थिति से भर देता है।

आवेग और उद्वेलन के बाद बारी आती है ठण्डे दिमाग से बैठ कर सीखने समझने की। विश्लेषण और निष्कर्षों की।

इतना भर ही सही कि समझ तो आये कि यह आखिर हो क्या रहा है।

इस सिलसिले में पहली बात मीडिया की भूमिका है क्योंकि अक्सर उस पर संकटों और त्रासदियों को सनसनीखेज और बिकाऊ माल में बदलने का आरोप लगा कर छोड़ दिया जाता है। दामिनी काण्ड के सिलसिले में भी ऐसे आरोप लगे। अपनी जगह शायद यह बात एक हद तक सच भी हो लेकिन इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उसके आनुषंगिक नतीजे उसके प्रमुख उद्देश्यों से स्वतन्त्र और बेशक ज्यादा बड़े भी हो जाते हैं।

सामूहिक आक्रोश और सक्रिय प्रतिरोध के लिये सोशल मीडिया के बेहद कारगर होने का प्रमाण मुद्दों पर एकजुट होकर सड़कों पर उमड़ आता जनसैलाब है। सोशल मीडिया इसे सम्भव करता है और सामान्य मीडिया अपने संचारी स्वभाव से पूरे देशकाल को उसकी उपस्थिति से भर देता है। कस्बे, से लेकर छोटे बड़े शहरों, महानगरों तक जो सड़क पर नहीं होते वे भी उस विराट भाव-विस्तार में समाए होते हैं। जन को जन से जोड़ते हुए जब दामिनी काण्ड जैसी दुर्दान्त घटना के सदमे और हताश अवसाद को भी सामूहिक मन की भीतरी तहों तक एक सकारात्मक ऊर्जा में बदलते हुए महसूस किया जाता है तो उम्मीद के बचे रहने की सूरत बनती-सी लगती है। दृश्यज है विराट जिसके भीतर अदृश्य एक पुल है लेकिन उस तन्त्र को साथ नहीं जोड़ता जिसके जरिये सूरते-हाल को बदलने की उम्मीद की जा सके। यही पुल इसी जनसैलाब को तन्त्र से जोड़ने की कोशिश में वहाँ तक जाता तो है लेकिन वहाँ पहुँच कर धरना, मोर्चा, जलूस, नारे और प्रतिरोध के अन्य उपायों से कहने-सुनने के लिये मजबूर, जवाब में पाता क्या है? सच्चे आक्रोश से उत्पन्न एक स्वत:स्फूर्त, संरचनाविहीन आन्दोलन अपने विराट दृश्यज ने शासनतन्त्र को विचलित कर जाता है। जल-प्रहार, लाठीचार्ज, आंशिक कर्फ्यू, स्थगित यातायात, गिरफ्तारी, दंगा-फसाद (शायद आंशिक रूप से सच या शायद प्रायोजित) और हत्या की साजिश जैसे

लेखिका वरिष्ठ आलोचक हैं।
mamushu@gmail.com
+919871282073

(बिल्कुल झूठ) आरोपों जैसे उपायों के सहारे दबाये और काबू में लाये जाने की कोशिश। उनकी आशंकाएँ अपनी जगह शायद सही होंगी। या सड़क पर भीड़ के बेकाबू हो जाने का खतरा, भीड़ में गैर-सामाजिक तत्त्वों के सक्रिय हो उठने का खतरा, आतंकियों की घुसपैठ का खतरा, शायद उनके निहायत गैर-वाजिब तरीकों की वाजिब वजहें होंगीं। वे तो अपने जानते 'कानून और व्यवस्था' को लागू करने की कोशिश में जी जान से जुटे होते हैं, वही कानून और व्यवस्था जिसके खुल्लम-खुल्ला उल्लंघन के साथ कानून और व्यवस्था की एजेन्सियों की मिली-भगत से दामिनीकाण्ड जैसी दुर्घटनाएँ अखबारों के तीसरे पन्ने पर दैनिकचर्या जैसी नियमितता के साथ प्रकट हुआ करती हैं। विडम्बना तो है लेकिन सिद्धान्त की तरह यह माँग नहीं की जा सकती कि वहाँ उल्लंघन हुआ था तो यहाँ लागू करना भी अनुचित है लेकिन देखा जा सकता है साफ-साफ कि शासन और उसका तन्त्र एक तरफ, जनता और उसके संकट दूसरी तरफ!

क्या हम गलत जगह पर दस्तक दे रहे हैं? प्रताप भानु मेहता ने पिछले दिनों अखबारों की सुर्खियों और सम्पादकियों में छाये हुए विमर्श में कहीं किसी जगह इस सवाल को रेखांकित किया कि क्या ये संकट, ये समस्याएँ सरकारी फरमान की ताकत की हदों के बाहर हैं? एक सामाजिक रोग का उपचार राजाज्ञा के जरिये करने की कोशिश में हम कहीं एक असम्भव या फिर असफल होने को अभिशप्त समाधान की तलाश में अपनी शक्तियों का अपव्यय तो नहीं कर रहे हैं?

यह बात खुल कर सामने आ चुकी है कि एक ओर इस विराट पैमाने पर बार-बार उमड़ कर सड़क पर आ जाने वाला जन-आक्रोश, जनता की स्वत:स्फूर्त लामबन्दी सरकारी समझ के बाहर है, उसे अपनी परम्परागत राजनीतिक समझ के चलते उसे इस किस्म के जनमोर्चे को जगह देने की तमीज नहीं है। वह सिर्फ इसके दमन या फिर दलगत राजनीति में इसके विघटन पर उतारू हो सकता है और दूसरी ओर सरकारी फरमान और तन्त्र के लिये जनता का मनोभाव एक हिकारत में तब्दील हो चुका है, एक औचित्यपूर्ण, व्यापक और खुल्लमखुल्ला हिकारत। ये सरकारी फरमान और दण्डविधान उसकी जुटशक्ति को तितर बितर करने में नाकामयाब ही होते है। इस हिकारत में एक निर्भयता शामिल होती जा रही है। इस जानकारी और पीड़ा की उपज कि वैसे भी कानून अब कोई सुरक्षा का आश्वासन नहीं क्योंकि रक्षक ही अब सबसे अधिक शक्तिशाली भक्षक हैं और भ्रष्टाचार फिलहाल कानून का पर्याय बन चुका है। यह आक्रोश और निर्भयता अपने बड़े हिस्से में असहायता का लक्षण है। प्रताप भानु मेहता का संकेत है कि इस पैमाने की असहायता और भ्रष्टाचार सामाजिक अनुबन्धों और नियमों-मान्यताओं के, स्वयं समाज के अनर्थकर ढंग से विफल हो जाने का परिणाम है।

आधुनिक दर्शन के उद्धरणीय उद्धरणों में से एक रहा है, 'ईश्वर यदि न हो तो सब कुछ सम्भव होगा।' यह घोषणा चर्च और उसके ईश्वर के विरुद्ध थी और मानवीय सम्भावनाओं पर चर्च के अवरोधक अतिचार की ओर संकेत करती भी लेकिन 'सबकुछ' का मतलब सबकुछ ही साबित होता हुआ दिखा - विश्वयुद्धों के वैश्विक नरसंहार से लेकर हत्या, बलात्कार, भ्रष्टाचार तक - अपराध की हर किस्म। कानूनन परिभाषा के 'अपराध' में वह अवरोधक शक्ति नहीं साबित हुई जो धार्मिक परिभाषाओं के 'पाप' में शायद थी। ईश्वर के न रहने से पैदा हुआ शून्य भरने लायक दूसरा कुछ ईजाद नहीं हुआ लेकिन इतना तय है कि सामाजिक नियम-अनुशासन के विधान की जो दो परम्परागत जगहें थीं-धर्म और परिवार, उनकी वैधता अभी हाल-फिलहाल लौट कर आने वाली नहीं है जबकि एक नयी नैतिकता का विधान हालात को देखते हुए अविलम्ब जरूरी है।

दुर्दान्त दामिनी काण्ड में घटना तो बलात्कार की है लेकिन प्रताप भानु मेहता का कहना है कि उसकी विषयवस्तु बलात्कार से अधिक है। उनकी यह बात उद्वेलन के इस क्षण में से विवेक निचोड़ती है।

परम्परागत नैतिक विधान में रोक/अवरोध/प्रतिबन्ध और निषेध का अर्थतन्त्र कायम था लेकिन अब खान-पान, चाल-ढाल, उठ-बैठ हर बात के नियंत्रण के लिये कुछ पान खाने से लेकर शराब पीने तक को, पर स्त्री को ताकने से लेकर से लेकर वेश्यागमन तक को पाप ठहराने वाली निषेधमूलक मर्यादाएँ अब अपना अवशेष मात्र रह गयी हैं। बहुत मायनों में, स्त्री के सन्दर्भ में खास तौर से, वे अपनी संकीर्णता की वजह से अन्यायपूर्ण और अपर्याप्तता की वजह से अप्रासंगिक हो गयी हैं।

नया अर्थतन्त्र लालसा और उपभोग का नुस्खा लाया है। स्वच्छंदता उसका मूल मंत्र है जो प्रतिबन्ध और निषेध के नैतिक विधान की सीमाओं में अँटने वाला है ही नहीं अत: उसके काबू के बाहर है। लालसा और स्वच्छंदता का यह गठजोड़ दामिनी-काण्ड जैसी हिंसा को भले क्षमा न करे, लेकिन व्यापक तौर पर निषेधमूलक मर्यादा उसके लिये अस्वीकार्य है।

सामाजिक अनुबन्ध के स्तर तक पहुँच पाने वाले नियम-अनुशासन की वैधता में सार्वजनिक सामाजिक स्वीकृति का तत्त्व होना अनिवार्य है। इसके अभाव में वह केवल व्यक्तिगत विवेक का विषय रह जाता है और उसकी कोई सर्वमान्य मर्यादा नहीं रह जाती जो उसे सामाजिक अनुबन्ध की प्रतिष्ठा दे।

हम अब तक जन-प्रतिरोध को राजनीतिक अधिकारों या आर्थिक लामबन्दी के सीमित घटनास्थल की तरह देखने के आदी हो चुके हैं। भ्रष्टाचार और बलात्कार के विरुद्ध उमड़े जन-सैलाब में इसीलिये बाढ़ की हरहराहट तो सुनाई देती है लेकिन संगठित नेतृत्व और सुसंयोजित कार्यक्रम के अभाव में उसे हम बाढ़ उतर जाने तक का नाद और हुंकार मान लेते हैं। नये कानून का निर्माण और अपराधी को दण्ड की माँग तक ही उसका कार्यक्रम सीमित रह जाता है, इस प्रश्न पर निरुत्तर कि भ्रष्टाचार के रहते नये कानून को लागू कैसे किया जाएगा जबकि पुराने कानून भी सक्षम होने के बावजूद लागू न होने की वजह से निरर्थक और असमर्थ पड़े रह गये हैं।

सरकारी तन्त्र बाढ़ उतरने की प्रतीक्षा करता है और जनता इस उतार पर हताश होती है। लेकिन जनसैलाब उमड़ा था, हरहराहट गूँजी थी, प्रताप भानु मेहता इस परिघटना की एक नयी पढ़न्त-सम्भावना पैदा करते हैं।

वे कहते हैं, सामाजिक नियम-अनुशासन अब सीमित जगहों में निर्मित नहीं होते और आधुनिक समाज सूचना-संचार-तन्त्र द्वारा संचालित है। व्यापक सामाजिक स्वीकार्यता की अभिव्यक्ति के लिये ऐसी लामबन्दी की जरूरत होती है जिसके पास सार्वजनिक प्रदर्शनीयता का मूल्य हो। सूचना-संचार-तन्त्र

ने वह जगह बनायी है। इसके बिना, केवल व्यक्तिगत आवेग को नैतिक संघात की सामाजिक प्रतिक्रिया नहीं माना जा सकता, न उस नैतिक संघात का निपटारा केवल पारम्परिक संस्थाओं के स्तर पर किया जा सकता है। इस बात की पहचान बेहद जरूरी है कि इस औचित्यपूर्ण आक्रोश और अन्याय के विरुद्ध आवेग में अन्य बहुत सारे लोगों का, पूरे समुदाय का साझा है। यही पहचान विशेष घटनाओं को व्यक्तिगत विचलन के खाते में पड़ कर रफा-दफा हो जाने से या आँकड़ों की बाजीगरी के कुहासे में खो जाने से रोकती है। स्त्री के साथ यौनिक हिंसा की दैनिक घटनाओं की निरन्तरता के बीच दामिनी काण्ड और उससे फूटे आन्दोलन की विशिष्टता यही है कि वह स्त्री के साथ यौनिक हिंसा को रोड की बात से लेकर व्यक्तिगत विचलन या अपवादस्वरूप घटना तक के किसी खाते में डाल कर रफा-दफा कर देने से रोकता है।

माना जा सकता है कि नये नियमों-अनुशासनों का विधान सामाजिक संघर्ष के द्वारा होगा क्योंकि शासनतन्त्र को उसके अधीन लाना जरूरी है। इस संघर्ष में अब सूचना-संचार-तन्त्र की मदद से जनता की लामबन्दी और विराट प्रदर्शनीयता अनिवार्यत: निहित होगी। औचित्यपूर्ण आक्रोश और उससे उत्पन्न प्रतिरोध को लेकर लोग उत्तरोत्तर अपने साथ अन्य बहुत से लोगों में सार्वजनिक आवेग जगा कर नये नैतिक नियमों-अनुशासनों के विधान का लोकवृत्त बनाएँगे।

लेकिन दूसरी ओर सरकारी तन्त्र को भी सामाजिक विघटन के लिये जिम्मेदारी से बरी नहीं किया जा सकता। स्वाधीन भारत में राज और समाज के रिश्ते का ऐतिहासिक विकास कुछ यूँ हुआ कि देश के निर्माण मैं जनता को भागीदारी से मुक्त रखा गया। भारत के जिस 'आधुनिक' भविष्य की योजना बनाई जा रही थी, जनता को शायद उसकी कल्पना और स्वप्न के भी अयोग्य मान लिया गया। देश का निर्माण जनतांत्रिक 'समतावादी,' 'मुक्तिकारी' और 'प्रगतिशील' शासन-तन्त्र का दायित्त्व बनाया गया क्योंकि शासनतन्त्र में शामिल लोग भारतीय आधुनिकता के अगले दस्ते के लोग थे जबकि शेष भारत अभी 'विषमतावादी', 'दमनशील' और 'प्रतिगामी' मानसिकता में ही विहार कर रहा था।

यथार्थ स्वयं कभी इतना सरल नहीं था लेकिन इस गढ़न्त ने शासन-तन्त्र और राजाज्ञा की वैधता को असीमित कर दिया। पंचवर्षीय विकास योजनाओं के मॉडल सीधे बाहर से लाये और अपने साँचे में ढाले बिना आजमाये गये।

राज और समाज में सम्बन्ध की बजाय अलगाव और विभाजन का सूत्रपात हुआ। समाज पर शासनतन्त्र के अविश्वास ने समाज को बड़े पैमाने पर आत्मरक्षा-तत्पर बनाया। समाज का एक हिस्सा प्रगतिशील हुआ लेकिन तीन चौथाई अपनी संकीर्ण मर्यादाओं की चौहद्दियों की रक्षा में तत्पर बना रहा। दलित-द्वेष और स्त्री-विरोध मर्यादा की रक्षा का पर्याय बन गये और समाज की रचनात्मक ऊर्जाएँ नष्ट हो गयीं।

सरकारी-तन्त्र के बूते पर कानून बनाए जा सकते हैं, उनका पालन नहीं करवाया जा सकता लेकिन सरकारी तन्त्र की छाया रचनात्मक प्रयासों पर मँडराती और गहनतम अर्थों में चौतरफा विकृति -भ्रष्टाचार- का व्यायाम जरूर करती रहती है। वह सामाजिक और नागरिक ऊर्जा को इस हद तक प्रतिबन्धित और उपनिवेशित कर चुकी है कि महत्त्वपूर्ण मुद्दे अवरुद्ध हो गये हैं। राजकाज की पद्धतियों की सुदूर-व्याप्त मनोवैज्ञानिक प्रतिध्वनि होती है। राजकाज अगर इस बात को नियम और अनुशासन जैसी वैधता प्रदान करता है कि निकल सको तो चाहे जो कुछ करके निकल जाओ, सब चलता है तो निस्संदेह यह घातक सिद्धान्त जिन्दगी के हर क्षेत्र में पैवस्त हो जाएगा।

अकेली दामिनी नहीं, बलात्कार की संख्याबहुल घटनाओं का एक आयाम कहीं भारतीय 'मर्दानगी' का तथाकथित संकट भी है। यह एक जटिल सामाजिक तथ्य है लेकिन निस्संदेह उसी राजनीतिक अर्थतन्त्र का एक सामाजिक आयाम है जिसके हम वासी हैं और उसमें शासनतन्त्र की प्रत्यक्ष भूमिका है।

व्यापक शहरीकरण के दौर से हम गुजर रहे हैं और शासन तन्त्र की नगर-निर्माण-योजनाओं में भावी आपदाओं और संकटों को निर्माणाधीन देखा जा सकता है। कस्बाई इलाकों में शहरीकरण ने भूसम्पत्ति के बाजार से संचालित नकदी का अर्थतन्त्र खड़ा कर दिया है। काला पैसा और बंदूक-संस्कृति उसके अनिवार्य घटक हैं। कहीं वे महानगरों के विकास क्षेत्र का हिस्सा हैं, कहीं स्वयं स्वतन्त्र शहर बनने की प्रक्रिया का अंग। एक पारम्परिक सामाजिक संरचना अचानक लालसा और उपभोग के अर्थतन्त्र की आधुनिक दुनिया में गुलेलमारी-सी जा फिंकी है। कॉलेज सरीखी आधुनिक संस्थाएँ इन कस्बों की युवा आबादी को पुराने शहरियों की युवा आबादियों के साथ कहीं प्रतियोगिता, कहीं प्रतिरोध तो कहीं प्रतिशोध की भूमिका में खड़ा करती हैं और अपने परिवार-समाज के लिये अजनबी बनाती हैं। और शासनतन्त्र अपनी निर्माण योजनाओं को अन्जाम देने के सिलसिले में सड़क पर जितनी रोशनियाँ, उससे कहीं बड़ी गिनती में शराब के ठेके लगाने को तत्पर है।

सरकार के बाहर की राजनीति भी इन हालात में कोई निर्मात्री भूमिका नहीं निभा रही है। बल्कि असल में तो सरकारी और गैर-सरकारी या पक्ष और प्रतिपक्ष की राजनीतियों में कोई निर्णायक अन्तर है ही नहीं। गठबन्धन की सरकारों के दौर में हर रंग की राजनीति फिलहाल एक सरकारी सम्भावना है और गठजोड़ के सन्दर्भ से ही मेल और बेमेल का फैसला होने को है।

सतह के नीचे एक हिंसक मिश्रण सीझ रहा है। शासन ने अपने अर्थतन्त्र और उसकी प्रमुख संस्थाओं के हाथों खुद इस मिश्रण के मसाले बनाए हैं - लालसा, उपभोग, काला पैसा, भ्रष्टाचार, बन्दूक की संस्कृति, ताकत का नशा, अनपढ़-अधपढ़ जनता, अपनी जगह जमीन से उखड़े हुए लोग, निर्बन्ध निरंकुश स्वच्छन्दतावाद, उच्छिन्न या निर्बल सामाजिक अंकुश। वही शासनतन्त्र जिसने खुद कभी स्वयं को देश और समाज के निर्माण के लिये अगले दस्ते की हैसियत में रखा था और जो अब खुद अपने रोगों और विकारों में खोकर रह गया है।

इस व्यापक जनसैलाब को प्रतिरोध के साथ साथ अपने लिये रचनात्मक भूमिकाएँ भी ढूँढनी होंगी।

❑

vkoj.k&dFkk

मूलबिन्दु की खोज और स्थापना

अशोक गुप्ता

हमारे मिथकों में देखें कि पुरुष, स्त्री के प्रति अपनी घोषित यौन आक्रमणकारिता के बावजूद महिमामण्डित बना रहा है। ब्रह्मा अपनी पुत्री सरस्वती पर मोहित होकर उसके पीछे दौड़े। सूर्य ने कुन्ती को भीषण त्रासदी भरे भविष्य की ओर धकेला और श्रेष्ठ बने रहे। द्रोपदी पाँच पतियों की यौनिक वस्तु बनी रही और दुर्योधन की भरी सभा में उसके चीरहरण से कोई भी लांछित नहीं हुआ।

दिल्ली में 16 दिसम्बर 2012 को हुए सामूहिक बलात्कार के प्रसंग को बतकही या चर्चा के बहाने प्रसंगवश उठाना तब तक केवल 'टाइम पास' का खेल है जब तक इसके पीछे इसके बचाव और इसके स्थायी रोकथाम का कोई मंसूबा न हो। साथ ही, इसके रोकथाम की कोई कोशिश तब तक निरर्थक है, जब तक इसके कारणों के मूलबिंदु स्पष्ट रूप से पहचान पर सामने न रख लिये जाएं। इसलिए मैं अपनी बात की शुरुआत उसी मूलबिंदु की खोज और स्थापना से करना चाहता हूँ।

एक बात तो निर्विवाद स्थापित है कि भारतीय सन्दर्भ में आदिकाल से पुरुष प्रधान पितृ सत्तात्मक व्यवस्था काबिज रही है और स्त्री की जगह बहरहाल एक आश्रिता की रही है। पहले पिता, फिर पति और अंततः पुत्र। इस सन्दर्भ में आमूल व्यवस्था ने इस बचाव का प्रावधान अपने लिये बनाए रखा है कि स्त्री को हर उस स्रोत से वंचित रखा जाय जो उसके भीतर अपने आश्रिता होने के प्रति जागरूकता पैदा करे। औपचारिक शिक्षा, अपने समय के श्रेष्ठतर कहे जाने वाले वैदिक ग्रंथों का पाठ, यहाँ तक कि श्रवण, सहज अनुभव को परिपक्व करते बाहरी समाज संसार में आवा-जाही, यह सब स्त्री के लिये प्रतिबंधित रखा गया। केवल स्त्री के लिये ही नहीं, यह प्रतिबन्ध, उन सभी वर्गों के लिये कामयाब हथियार थे, जिन्हें सदा गुलाम बना कर रखते हुए, उनकी प्रतिरोधमुक्त सेवाएँ पाने का मंसूबा व्यवस्था का था। जाहिर है, दलितों, जिन्हें उस युग में अछूत कहा जाता था, इसी प्रतिबन्ध से बंधे हुए थे। स्त्री को, चूंकि प्रकृति ने जननी का मान देकर रचा था, पुरुष व्यवस्था के लिए स्त्री के इस पक्ष को नकार पाना असम्भव था। इसके तोड़ के रूप में पितृ सत्तात्मक व्यवस्था ने दो रणनीतियाँ अपनाईं। पहले तो उसे देवी कह कर, सीता सावित्री की छवि उस पर गहराई से आरोपित करके, उससे उसके इस लौकिक संसार का यथार्थबोध छीन लिया। इससे एक ओर तो वह आत्ममुग्धता की तन्द्रा में ठेल दी गयी, दूसरी ओर, देवी कहलाये जाने के कारण, उसकी निजता सार्वजनिकता में बदल गयी। इस रणनीति ने स्त्री को अपनी निजता के आग्रह से रिक्त कर दिया। अब वह कुछ भी सोचे, अपने बारे में नहीं सोच पाएगी।

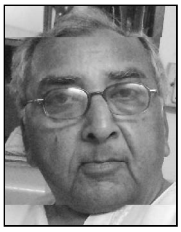

लेखक साहित्यकार और विचारक हैं।
ashok267@gmail.com
+919871187875

दूसरी रणनीति के रूप में पुरुष सत्ता ने स्त्री तो जिस जटिलतम चक्रव्यूह में रख दिया, वह था उसके लिये यह मूल्यबोध कि उसकी यौन शुचिता उसके लिये उसके प्राणों से भी अधिक संरक्षणीय है। उसकी क्षति होने से स्त्री अस्मिताहीन होकर समाज के लिए, परिवार के लिए और स्वयं अपने लिए त्याज्य और वर्जित हो जाएगी। उसके पिता, पति और पुत्र, जिन पर आश्रित रहने का प्रावधान व्यवस्था ने स्त्री को दिया है, वह उससे अपना आश्रय छीन लेंगे, और वह समाज की निकृष्टतम जीव होकर रह जाएगी। फिर चाहे वह जीये या मर जाये। इस रणनीति की उपधारा के रूप में यह स्वत: ध्वनित रहा, कि पहले तो यौन शुचिता की कोई शर्त पुरुष के ऊपर नहीं लागू होगी, दूसरे स्त्री के पास अपनी यौन शुचिता पर होने वाले किसी भी आक्रमण को रोकने का कोई कवच नहीं होगा क्योंकि लज्जा उसका आभूषण है और ऐसे आभूषण के ऊपर किसी कवच का स्थान कहाँ? सदियों तक, किसी ने इस व्यवस्था पर कोई सवाल नहीं उठाया कि अगर स्त्री के पास अपनी यौनिकता की रक्षा का कोई प्रतिरोधक तन्त्र नहीं है, अगर समाज में स्त्री की यौनिकता पर आक्रमणकारी के विरुद्ध कोई लांछन नहीं है, तब यौन शुचिता ऐसे मूल्य की सार्थकता क्या है...? इसे क्यों माना जाना चाहिए ? बस, स्त्री अपनी यौन शुचिता के मूल्यवान होने का समाजगत आग्रह ढोती आ रही है।

हमारे मिथकों में देखें कि पुरुष, स्त्री के प्रति अपनी घोषित यौन आक्रमणकारिता के बावजूद महिमामण्डित बना रहा है। ब्रह्मा अपनी पुत्री सरस्वती पर मोहित होकर उसके पीछे दौड़े। सूर्य ने कुन्ती को भीषण त्रासदी भरे भविष्य की ओर धकेला और श्रेष्ठ बने रहे। द्रोपदी पाँच पतियों की यौनिक वस्तु बनी रही और दुर्योधन की भरी सभा में उसके चीरहरण से कोई भी लांछित नहीं हुआ। न भीष्म, न धृतराष्ट्र। युधिष्ठिर को भी धर्मराज की पदवी से अपदस्थ नहीं पाया गया।

मिथक काल का इतिहास काल में प्रवेश भी इस मूल्यबोध से मुक्त नहीं देखा गया। पुरुष की क्रूर और कुटिल मानसिकता को सती प्रथा और जौहर की परम्परा के रूप में इतिहास काल में भी सतत देखा जा सकता है। आगे, प्रसंगवश एक कथा याद आती है।

दो मित्र शहर से व्यापार करके अपनी अपनी कमाई लिये अपने गांव लौट रहे थे। शहर जाने के पहले एक मित्र ने दूसरे से कुछ धन राशि ऋण स्वरूप ली थी, जो उसे वापस देनी थी। गांव का रास्ता एक जंगल से गुजरता था, जिसमें डाकुओं का प्रकोप रहता था। जंगल में प्रवेश करने के बाद दोनों मित्र सतर्क सचेत से चल रहे थे। कुछ आगे चल कर उस मित्र को जिसे ऋण चुकाना था, उसने शायद किसी आहट को महसूस किया, उसे संदेह हुआ कि सम्भवत: डाकू लोग आस पास हैं, सारी कमाई छीन लिये जाने का खतरा है। इस पर उसने तत्काल निर्णय स्वरूप, वहीं जंगल में ही, अपने उस मित्र को ऋण की देय राशि वापस कर दी। अब लुटे तो दोनो ही लूटेंगे, लेकिन उसके सिर पर फर्क तो नहीं रहेगा।

मित्रों, यह कथा बाल-विवाह की प्रथा की अन्तर्वृत्ति उजागर करती है। स्त्री के तीनों आश्रयदाता स्त्री को बोझ की तरह मानते हुए ही उसे निभाते रहे हैं। अपने सिर से बोझ उतार के दूसरे के सिर जैसे तैसे डाल दो, बस काम खत्म। आज के समय में भी, मध्य वित्त परिवारों तक में बेमेल विवाह, अभिभावकों द्वारा भी सम्पन्न कराये देखे जा सकते हैं।

स्त्री ने आत्मनिर्भरता की अपनी क्षमता स्थापित कर दी है। किसी भी क्षेत्र में स्त्री की उपस्थिति अब संशय का विषय नहीं है। सभ्यता, संस्कृति, आचार व्यवहार, इन सब सन्दर्भों में स्त्री की भूमिका का परिदृश्य बहुत बदल गया है और निरन्तर बदलता जा रहा है, इसके बावजूद, चूंकि व्यवस्था का पितृसत्तात्मक होना अद्यतन अक्षुण्य है, सो आदिकालीन व्यवस्था की रणनीति भी यथावत है। आसमान अभी भी चील कौवों से भरा है। स्त्री के लिए अपनी यौनशुचिता बचाने का दायित्व अभी भी अपने प्राण बचाने से ज्यादा जरूरी माना जाता है। पुरुष के लिए यौन शुचिता जैसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। स्त्री के पास कोई भी कवच नहीं है जिससे वह अपने ऊपर होने वाले आक्रमण से खुद को बचा सके। उसके आश्रय दाता, जो आदिकाल से खुद को उसका कवच होना घोषित करते आये हैं, अब उजागर हो रहा है कि वही किसी क्रूर आक्रामक से कम नहीं हैं। पुजारी, पिता, भाई, शिक्षक, न्यायविद, सत्ताधिपति या प्रबुद्ध कलाकार, किसी भी श्रेणी का पुरुष इस भूमिका में अपवाद नहीं है। आज भी किसी से बदला लेने, उसे पराजित करने, उसका मनोबल गिराने का सबसे सरल तरीका है कि उसके परिवार की स्त्री की यौन शुचिता को प्रदूषित कर दो। उसका सब कुछ स्वत: शून्य हो जाएगा।

ऐसे में, अगर, स्त्री को अपनी यौन शुचिता की बलात रक्षा के दायित्व से मुक्त कर दिया जाय, बलात्कार को आक्रामक के लिये एक दंडनीय अपराध माना जाय और स्त्री के लिये बस एक दुर्घटना, तो बलात्कार इतना मारक ब्रह्मास्त्र नहीं रह जाएगा जो वह पीड़िता को अपना सब कुछ नष्ट हो जाने का आभास देने लगे। इससे स्त्री में उसका मनोबल संचित होगा और वह साहस पूर्वक अपने ऊपर हुए यौनिक हमले की शिकायत ठीक वैसे ही कर पाएगी जैसे चोरी झपटमारी की शिकायत पुलिस से और शारीरिक चोट-चपेट की शिकायत डॉक्टर से करती है और यह करते समय वह खुद को अपनी-अपनी अस्मिता के प्रति आश्वस्त पाती है।

इस तरह मेरा मत है कि अगर हम समाज और स्त्री को यौन शुचिता मूल्य की भयावहता से मुक्त करा दें तो बलात्कार की घटनाएँ कम हो सकती हैं।

एक और बात है। जीवन में यौन तृप्ति का अपना महत्त्व है। इस दिशा में अतृप्ति या तो मानसिक विकृतियों का कारण बनती है, या अनाचार का। यह एक सच है कि हमारी विवाह संस्था की वैधानिक संरचना में इस तृप्ति का स्थान नहीं है। हमारी बगिया में कितने भी फूल क्यों न खिले हों, लेकिन क्या कोई युवक परिवार के बीच रहते हुए, बिना इस बात के प्रति सतर्क हुए कि उसे कोई देख नहीं रहा है, सहज रूप से एक फूल तोड़ कर, अपनी पत्नी के जूड़े में लगा सकता है...? शायद नहीं। जो पारिवारिक संस्कृति, दम्पति के बीच सहज प्रणय के व्यवहार को स्वाभाविक स्थान नहीं देती, उसमें अतृप्ति जनित विकृतियों का उपजना रोका नहीं जा सकता। इसलिए यौनिक अपराधों की प्रवृत्तियों कर अंकुश पारिवारिक अनुशासन की नीति में बदलाव के जरिये भी लाया जा सकता है।

❑

vkoj.k&dFkk

लोकतन्त्र की नयी उम्मीद

आनन्द प्रधान

विरोध का अधिकार लोकतन्त्र की आत्मा है। इस मायने में दिल्ली में गैंग रेप के खिलाफ भड़के गुस्से और लोगों खासकर युवा लड़के-लड़कियों का सड़क पर उतरना और विरोध जाहिर करना लोकतन्त्र के लिए शुभ संकेत है।

इस आन्दोलन ने स्त्रियों के खिलाफ बढ़ती यौन हिंसा के खिलाफ बराबरी, आज़ादी और सुरक्षा की मांग को राष्ट्रीय एजेंडे पर ला खड़ा किया है।

दिल्ली की वह बहादुर लड़की शरीर और मन पर हुए प्राणान्तक घावों के बावजूद जीना चाहती थी। देश के करोड़ों लोग भी यही चाहते थे। लेकिन वह बर्बर यौन हिंसा से लड़ते हुए एक शहीद की तरह चली गयी। यह सही है कि वह भारतीय समाज में स्त्रियों के खिलाफ होनेवाली बर्बर यौन हिंसा और भेदभाव की पहली शहीद नहीं है और न आखिरी। उसके जाने के बाद भी दिल्ली, पंजाब, बिहार, गुजरात से लेकर बंगाल तक से स्त्रियों पर यौन हिंसा, बलात्कार और हत्या की खबरें आ रही हैं। अखबारों और चैनलों में अब भी ऐसी ख़बरों की भरमार है।

लेकिन इस बार एक बड़ा फर्क है। इस बार अखबारों और न्यूज चैनलों में स्त्रियों पर होनेवाली बर्बर हिंसा की खबरों से ज्यादा जगह और सुर्खियों में उसके विरोध की खबरें हैं। उस बहादुर लड़की के संघर्ष और शहादत ने देश के लाखों नौजवानों खासकर लड़कियों और आम लोगों में स्त्रियों के खिलाफ होनेवाली बर्बर हिंसा और आपराधिक भेदभाव के खिलाफ लड़ने का जज्बा भर दिया है। दिल्ली से लेकर देश भर के छोटे-बड़े शहरों-कस्बों में हजारों-लाखों युवा और आम नागरिक 'हमें न्याय चाहिए' और 'हमें चाहिए- आज़ादी' के नारों के साथ सड़कों पर उतर आए हैं।

खासकर दिल्ली में जिस बड़ी संख्या में युवाओं ने सड़कों पर और उसमें भी खासकर सत्ता के केन्द्र रायसीना पहाड़ी, विजय चौक और इण्डिया गेट से लेकर जंतर-मंतर पर उतरकर प्रदर्शन किया और कर रहे हैं और अपना गुस्सा जाहिर कर रहे हैं और पुलिसिया दमन के बावजूद पीछे हटने को तैयार नहीं हैं, उसने सत्ता प्रतिष्ठान के साथ-साथ समूचे राजनीतिक वर्ग को एक साथ चौंका और डरा दिया है। हड़बड़ी और घबड़ाहट में केन्द्र और दिल्ली सरकार ने कानून में बदलाव और दिल्ली गैंग रेप की जाँच के लिए दो न्यायिक आयोग बनाने से लेकर फास्ट ट्रैक कोर्ट बनाने, दिल्ली में सार्वजनिक बसों की संख्या बढ़ाने जैसे कई फैसले किये हैं।

लेखक आईआईएमसी में एसोसियेट प्रोफेसर हैं।
apradhan28@gmail.com
+919818305418

यही नहीं, प्रधानमन्त्री से लेकर गृह मन्त्री और कांग्रेस अध्यक्ष तक को बलात्कार के खिलाफ कड़े कानून बनाने से लेकर दोषियों को कड़ी से कड़ी सजा दिलाने के वायदे करने पड़े हैं। लेकिन लोगों का गुस्सा थमने का नाम नहीं ले रहा है। यहाँ तक कि मीडिया और न्यूज चैनलों की सुर्ख़ियों से गायब होने के बावजूद जंतर-मंतर से लेकर दिल्ली विश्वविद्यालय और जे.एन.यू. परिसर तक लगभग रोज सैकड़ों की संख्या में लोगों खासकर युवाओं और महिलाओं का शांतिपूर्ण प्रदर्शन जारी है। यही नहीं, दिल्ली से शुरू हुए इन विरोध प्रदर्शनों का सिलसिला और महिलाओं की बेख़ौफ़ आज़ादी की मांग का आन्दोलन देश के छोटे-छोटे शहरों और कस्बों तक पहुँच गया है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अपना गुस्सा जाहिर करने पहुँच रहे लोगों में छात्र-युवा लड़के और लड़कियों की संख्या सबसे ज्यादा है।

असल में, यह एक इन्द्रधनुषी विरोध प्रदर्शन है जिसमें रैडिकल वामपंथी संगठनों- आइसा, आर.वाई.ए., एपवा और दूसरे वामपन्थी संगठन जैसे एस.एफ.आई., एडवा, एन.आई. एफ.डब्ल्यू. आदि से लेकर जे.एन.यू. छात्रसंघ तक और अस्मिता जैसे सांस्कृतिक संगठन से लेकर और जागोरी जैसे नारीवादी संगठनों तक कई रंगों-विचारों के संगठन हैं तो दूसरी ओर आम आदमी पार्टी से लेकर घोर दक्षिणपंथी ए. बी.वी.पी. जैसे संगठन भी हैं। लेकिन ए.बी. वी.पी. जैसे संगठन और बाबा रामदेव जैसे धर्मगुरु को न सिर्फ इस आन्दोलन में कोई तवज्जो नहीं मिली है बल्कि लोगों और खासकर युवाओं ने खुद ही अलग-थलग कर दिया है। ए.बी.वी.पी. और एन.एस.यू.आई. जैसे छात्र संगठन इस आन्दोलन के दौरान बुरी तरह बेनकाब हो गये हैं।

इसके उलट आइसा-एपवा जैसे रैडिकल-वाम संगठन वहाँ नेतृत्वकारी भूमिका में हैं और उनके तर्कों और विचारों को सुना जा रहा है। लेकिन सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि इन संगठनों और उनके कार्यकर्ताओं से कई गुना ज्यादा संख्या में आम नौजवान खासकर लड़कियाँ और महिलाएँ हैं जो खुद वहाँ पहुँची और पहुँच रही हैं। इनका किसी राजनीतिक संगठन या पार्टी से सम्बन्ध नहीं है। वे सभी गुस्से में हैं। उन्हें लगता है कि 'बस, अब बहुत हो चुका।' सबके अपने पीड़ादायक अनुभव हैं जो उन्हें उस बहादुर लड़की से जोड़ते हैं, उसकी पीड़ा और बलात्कारियों के खिलाफ संघर्ष में साझीदार बनाते हैं और लड़ने का हौसला और साहस देते हैं।

कहने की जरूरत नहीं है कि इन सभी लड़कियों-महिलाओं और उनके पुरुष साथियों और परिवारजनों ने चाहे वह घर की बंद चहारदीवारी हो या घर के बाहर कालोनी-मुहल्ले की सड़क या बस स्टैंड या खुद बस-मेट्रो या बाजार/शापिंग माल्स या आफिस या स्कूल-कालेज-यूनिवर्सिटी या कोई और सार्वजनिक स्थान-लगभग हर दिन, कम या ज्यादा अश्लील फब्तियाँ, यौन उत्पीड़न और अत्याचार अन्दर जमा होते गुस्से के बावजूद डरकर और चुपचाप झेला है। लेकिन दिल्ली गैंग रेप की बर्बरता ने उस डर को तोड़ दिया। उन हजारों-लाखों युवाओं खासकर लड़कियों को यह समझ में आ चुका है कि लड़ने और घरों से बाहर निकलकर अपनी आवाज़ बुलन्द करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं है।

यही कारण है कि उनका वर्षों से जमा गुस्सा फूट पड़ा है। उस गुस्से में शुरुआत में बदले की भावना भी दिखी जो न्याय की मांग करते हुए बलात्कारियों को फांसी की सजा और उनका रासायनिक बधियाकरण करने और कड़े से कड़े कानूनों की मांग कर रही थी। लेकिन धीरे-धीरे इसमें वह विवेक और तार्किकता बढ़ रही है जो न्याय का मतलब बदला नहीं समझती है, जो यौन हिंसा का समाधान फांसी में नहीं देखती है, जो कड़े कानूनों और चप्पे- चप्पे पर पुलिस तैनात करने से परे जाकर सरकार, पुलिस, कोर्ट और कानूनों पर हावी उस पुरुषसत्ता और पुरुषवादी सोच को निशाने पर ले रही हैं जो लड़कियों और महिलाओं के खिलाफ हिंसा और यौन अत्याचारों को कभी घर से बाहर निकलने, कभी फैशन और कपड़ों और कभी संस्कारों आदि के नाम पर जायज ठहराने की कोशिश करते हैं। वे ऐसे किसी कुतर्क और बहाने को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।

आश्चर्य नहीं कि जन्तर-मन्तर पर हो रहे विरोध प्रदर्शनों में सबसे ज्यादा युवा खासकर लड़कियाँ और महिलाएँ उस गोलबंदी के साथ जुट रही हैं जिसकी अगुवाई आइसा और एपवा जैसे प्रगतिशील-वाम संगठन कर रहे हैं जिसमें बलात्कारियों को फांसी की मांग के बजाय यह नारा लग रहा है कि 'हमें क्या चाहिए- बेख़ौफ़ आज़ादी, घर में आज़ादी, रात में-दिन में घूमने-फिरने, आने-जाने की आज़ादी, काम करने की आज़ादी, स्कूल-कालेज जाने की आज़ादी, सिनेमा जाने की आज़ादी, प्रेम करने की आज़ादी...आज़ादी-आज़ादी।' इस प्रक्रिया में उन हजारों युवाओं का राजनीतिकरण हो रहा है और उन्हें स्त्रियों के खिलाफ बढ़ती हिंसा को देखने और समझने की नयी दृष्टि मिल रही है।

यहाँ 'व्यक्तिगत, राजनीतिक बन रहा है और राजनीति, व्यक्तिगत मामला बन रही है (पर्सनल इज पोलिटिकल, पोलिटिकल इज पर्सनल)।' माफ कीजियेगा, वे भीड़ नहीं हैं क्योंकि वे एक उद्देश्य के साथ सड़कों पर उतरे हैं। वे 'अराजकता के कद्रदान' (कोनोसुर आफ एनाकी) तो कतई नहीं हैं क्योंकि यह सरकार और प्रशासन की अपराधियों-माफियाओं के साथ मिलकर पैदा की हुई अराजकता के खिलाफ एक न्यायपूर्ण व्यवस्था बहाल करने की मांग का आन्दोलन है। वे विजय चौक और इण्डिया गेट पर भारतीय संविधान या संसद या राष्ट्रपति भवन या नार्थ-साउथ ब्लाक को ध्वस्त करने भी नहीं पहुँचे थे और न ही उनका इरादा राजधानी और सत्ता के शीर्ष पर कोई अराजकता पैदा करना था।

यही नहीं, सरकारी और प्रशासनिक संवेदनहीनता से नाराजगी और गुस्से के बावजूद वे तालिबानी न्याय के पक्ष में नहीं हैं। अलबत्ता वे सत्ता के शीर्ष पर बैठे लोगों की नींद में खलल जरूर डालना चाहते हैं। वे उनकी शांति जरूर भंग करना चाहते हैं। यह भी सच है कि वे समूचे राजनीतिक वर्ग और सत्ताधारियों से नाराज हैं। उन्हें लगता है और सौ फीसदी सही लगता है कि दिल्ली की वह बहादुर लड़की उस बस में गैंग रेप का विरोध करती और लड़ती हुई इसलिए मारी गयी क्योंकि अपराधी-लम्पट तत्वों, भ्रष्ट पुलिस और परिवहन विभाग और उनके सबसे बड़े संरक्षक सत्ता के शीर्ष पर बैठे नेताओं और राजनीतिक पार्टियों को आमलोगों की कोई परवाह नहीं है।

अफसोस की बात यह है कि इस जनउभार

और धीरे-धीरे उसके आन्दोलन बनने का स्वागत करने के बजाय कई उदार बुद्धिजीवी उससे भयभीत नजर आ रहे हैं। उन्हें यह एक अराजक भीड़ लग रही है जिसकी आक्रामकता और जल्दबाजी में वे फासीवादी आहट देख रहे हैं। उन्हें इसमें कानून के राज और व्यवस्था के प्रति खुला तिरस्कार और मखौल दिख रहा है। उन्हें यह भय सता रहा है कि देश भीड़तन्त्र की ओर बढ़ रहा है जोकि देश में पिछले कई दशकों और अनेक बलिदानों के बाद खड़ा किये गये लोकतांत्रिक व्यवस्था को तहस-नहस कर देगा। उन्हें यह चिंता है कि इस भीड़ की हिम्मत बढ़ती जा रही है, उसने जैसे 'अव्यवस्था' फैलाने और 'हुक्मउदूली' करने का लाइसेंस हासिल कर लिया है और अपनी शर्तों पर अपनी मांगें मनवाने की कोशिश कर रही है।

सचमुच, उदार बुद्धिजीवियों की इस चिंता से चिंतित होने और सतर्क होने का समय आ गया है। सवाल यह है कि वे कैसा लोकतन्त्र चाहते हैं? वे कैसी व्यवस्था के पक्ष में खड़े हैं? ये सवाल इसलिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि एक ऐसे समय में जब देश में सत्ता-कार्पोरेट्स गठजोड़ की ओर से लोकतांत्रिक अधिकारों खासकर अभिव्यक्ति की आज़ादी, विरोध के अधिकार, संगठन बनाने के अधिकार आदि पर संगठित हमले बढ़ रहे हैं और खुद लोकतन्त्र का दायरा सिकुड़ता-संकुचित होता जा रहा है, उस समय दुनिया के सबसे बड़े लोकतन्त्र को अपने ही नागरिकों और उनके सड़क पर उतरने से डर क्यों लग रहा है?

क्या लोकतन्त्र का मतलब सिर्फ पाँच साल पर होनेवाले चुनाव हैं? क्या नागरिकों का काम हर पाँच साल पर उपलब्ध विकल्पों में एक सरकार चुन देना भर है? जाहिर है कि लोकतन्त्र का मतलब नागरिकों का राजकाज के मुद्दों पर चुप रहना नहीं बल्कि सक्रिय भागीदारी है। इस सक्रिय भागीदारी का एक लोकप्रिय रूप विरोध करने का अधिकार भी है। विरोध का अधिकार लोकतन्त्र की आत्मा है। इस मायने में दिल्ली में गैंग रेप के खिलाफ भड़के गुस्से और लोगों खासकर युवा लड़के-लड़कियों का सड़क पर उतरना और विरोध जाहिर करना लोकतन्त्र के लिए शुभ संकेत है। उसने विरोध करने के अधिकार को फिर से बहाल करने की कोशिश की है।

वे इन विरोध प्रदर्शनों में एक नागरिक के दायित्वबोध के साथ पहुँच रहे हैं। वे वहाँ भारतीय लोकतन्त्र के एक सजग और सक्रिय नागरिक की तरह पहुँच रहे हैं और सत्ता प्रतिष्ठान और राजनीतिक वर्ग से हिसाब मांग रहे हैं। यही नहीं, उन्हें वहाँ पहुँचकर विरोध जताने और अपनी आवाज़ उठाने की ताकत का अहसास हुआ है। युवाओं के इस विरोध और आन्दोलन ने एक भ्रष्ट, जड़, संवेदनहीन व्यवस्था को झकझोर दिया है। इस आन्दोलन ने सत्ता में बैठे नेताओं की जवाबदेही की मांग करके लोकतन्त्र को कमजोर नहीं बल्कि मजबूत किया है। इस आन्दोलन ने अपनी तीव्रता के कारण बहुत छोटी अवधि में कई कामयाबियाँ हासिल की हैं।

इसकी सबसे बड़ी कामयाबी यह है कि इस आन्दोलन ने स्त्रियों के खिलाफ बढ़ती हिंसा से लेकर उनकी आज़ादी, सम्मान और सुरक्षा से जुड़े मसलों को पहली बार राष्ट्रीय राजनीति के एजेंडे पर सबसे उपर पहुँचा दिया है। याद कीजिए, इससे पहले कब देश में स्त्रियों के खिलाफ हिंसा और उनकी आज़ादी और सुरक्षा के मुद्दे राष्ट्रीय स्तर पर इतनी शिद्दत से चर्चा और बहस में आए थे? इससे पहले सत्ता प्रतिष्ठान और राजनीतिक वर्ग कब महिलाओं के मुद्दों पर इतने फैसले और घोषणाएँ करने के लिए मजबूर हुआ था? कहने की जरूरत नहीं है कि राजनीतिक विमर्श में महिला और युवा वोटरों की बढ़ती चर्चाओं के बावजूद महिलाओं के मुद्दे राजनीतिक पार्टियों के घोषणा-पत्रों में अब भी सबसे आखिर में और चलताऊ अंदाज़ जगह पाते रहे हैं।

लेकिन इस आन्दोलन के बाद राजनीतिक पार्टियों के लिए महिलाओं के मुद्दों को नजरन्दाज कर पाना मुश्किल होगा। इस अर्थ में इस आन्दोलन दूसरी सबसे बड़ी कामयाबी यह है कि इसने संकीर्ण जातिवादी, क्षेत्रीय और सांप्रदायिक अस्मिताओं का निषेध करते हुए स्त्री अस्मिता की जोरदार दावेदारी की है। इसने एक बलात्कार को दूसरे बलात्कार के खिलाफ खड़ा करने, एक आन्दोलन को दूसरे के खिलाफ खड़ा करने और एक मुद्दे के विरुद्ध दूसरे मुद्दे को खड़ा करने की संकीर्ण अस्मितावादी बुद्धिजीवियों की कोशिशों को भी नाकाम कर दिया है।

इस आन्दोलन की तीसरी बड़ी कामयाबी यह है कि लंबे अरसे बाद किसी आन्दोलन में इतनी बड़ी संख्या में और मुखरता के साथ मध्यम और निम्न-मध्यमवर्गीय महिलाएँ खासकर युवा छात्राएँ/लड़कियाँ विरोध प्रदर्शनों में सड़कों पर उतरी हैं। उन्होंने जिस तरह से पुलिस के डंडों, आंसू गैस और वाटर कैनन का सामना किया, वह नयी भारतीय स्त्री की के आगमन की सूचना है। अन्ना हजारे के नेतृत्ववाले

भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन में इतनी बड़ी संख्या में महिलाएँ नहीं आई थीं।

इस आन्दोलन की चौथी कामयाबी यह है कि इसने महिला आन्दोलन को पुनर्जीवित कर दिया है। इसने महिलाओं को भयमुक्त किया है। उनका आत्मविश्वास बढ़ा है। उन्हें अब घर की चहारदीवारी में बंद करना मुश्किल है। उनपर अब नैतिकता और इज्जत की रक्षा के नामपर भांति-भांति की पाबंदियाँ थोपना आसान नहीं होगा। वे अब और खुलकर अपनी इच्छाएँ जाहिर कर सकेंगी और चुनाव की स्वतन्त्रता का इस्तेमाल करेंगी। इस तरह पितृ-सत्ता को चुनौती बढ़ेगी। हालाँकि पितृ-सत्ता के खिलाफ यह लड़ाई बहुत लंबी और कठिन है लेकिन इस आन्दोलन ने जिस तरह से महिला आन्दोलन को नयी ताकत, उर्जा और गति दी है, उससे यह उम्मीद बढ़ी है कि पितृ-सत्ता के खिलाफ आन्दोलन को नया आवेग मिलेगा।

इस आन्दोलन ने छात्र-युवा आन्दोलन को भी एक नयी उर्जा दी है और देश भर में परिसरों में एक नयी हलचल दिखाई पड़ रही है। हालाँकि वित्त मंत्री पी. चिदंबरम ने दिल्ली में छात्र-युवाओं के इस तरह से सड़क पर उतरने और विरोध करने की तुलना 'फ्लैश मॉब' से करके उसकी खिल्ली उड़ाने की कोशिश की है लेकिन सच यह है कि इसने 60 से लेकर 80 के दशक तक के छात्र-युवा आन्दोलनों के तूफानी दौर और जज्बे की याद दिला दी है। यह एक मायने में राष्ट्रीय जीवन और परिदृश्य से गायब से हो गये छात्र-युवा आन्दोलन के पुनर्रूज्जीवन और वापसी का संकेत भी हो सकता है। यह किसी से छुपा नहीं है कि पिछले डेढ़-दो दशकों में मण्डल- मन्दिर से विभाजित और उदारीकरण- भूमण्डलीकरण के तड़क-भड़क से प्रभावित छात्र-युवा आन्दोलन काफी कमजोर हो गया था और उसकी धमक क्षीण सी हो गयी थी।

यही नहीं, शासक वर्गों ने छात्र-युवा आन्दोलन को कमजोर करने के लिए सुनियोजित तरीके से देश भर में खासकर उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों/कालेजों में पहले छात्रसंघों को प्रतिबंधित किया और फिर लिंगदोह समिति की सिफारिशों के जरिये छात्रसंघों को कमजोर, अराजनीतिक और पालतू बनाने की कोशिश की। इसकी वजह यह थी कि चाहे कांग्रेस या गैर कांग्रेस पार्टियों की केन्द्र सरकार रही हो या राज्य सरकारें सभी छात्रसंघों और छात्र-युवा आन्दोलनों से डरती रही हैं क्योंकि 60 से 80 के दशक के दौरान देश में विभिन्न मुद्दों पर सत्ता को चुनौती देनेवाले ज्यादातर छात्र-युवा आन्दोलनों की अगुवाई छात्रसंघों ने ही की थी।

इसके अलावा छात्र-युवा आन्दोलनों को कमजोर करने में ज्यादातर राजनीतिक पार्टियों और उनके जेबी छात्र-युवा संगठनों की भी बहुत बड़ी भूमिका रही है। इन सत्तारुढ़ पार्टियों ने अपने छात्र-युवा संगठनों को केवल राजनीतिक रैलियों में भीड़ जुटाने, शीर्ष नेताओं की जय-जयकार और जरूरत पड़ने पर हंगामा-तोड़फोड़ और गुंडागर्दी करने के लिए इस्तेमाल किया है। नतीजा सामने है। छात्र-युवा राजनीति के अपराधीकरण और उसे धर्मों, जातियों, क्षेत्रों और भाषाओं के आधार पर बांटने में इन शासक पार्टियों की भूमिका किसी से छुपी नहीं है। छात्र-युवा राजनीति के अपराधीकरण ने उसे आम छात्र-युवाओं और उनके वास्तविक मुद्दों से दूर कर दिया और इसके कारण छात्र-युवाओं का बड़े पैमाने पर अराजनीतिकरण हुआ।

आश्चर्य नहीं कि पिछले डेढ़-दो दशकों से देश में इक्का-दुक्का और क्षेत्र विशेष तक सीमित छात्र-युवा आन्दोलनों के अलावा किसी बड़े मुद्दे पर छात्र-युवा आन्दोलन की धमक नहीं सुनाई दी है। ऐसा लगने लगा था, जैसे छात्र-युवा आन्दोलन इतिहास की बात हो गये हों। लेकिन 2010 में भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन में छात्र-युवाओं की बड़े पैमाने पर सक्रिय भागीदारी ने छात्र-युवा आन्दोलन के फिर से उठ खड़ा होने की नयी उम्मीदें पैदा कर दीं। इसी दौरान आइसा जैसे रैडिकल-वाम और कुछ दूसरे वाम-लोकतांत्रिक छात्र संगठनों के संघर्षों के दबाव में जे.एन.यू. से लेकर इलाहाबाद और पटना तक कई विश्वविद्यालयों में इस साल छात्रसंघों के चुनाव हुए और उसमें आइसा और अन्य वाम-लोकतांत्रिक छात्र संगठनों की जीत हुई।

उसका नतीजा है कि छात्र-युवा आन्दोलन में एक नयी गतिशीलता आयी है। लेकिन कल्पना कीजिए कि अगर इस मुद्दे पर जे.एन.यू. छात्रसंघ और आइसा-एपवा जैसे संगठनों ने विरोध की पहल नहीं की होती और दिल्ली सहित पूरे देश में हजारों-लाखों की संख्या में छात्र-युवा सड़कों पर नहीं निकले होते तो क्या सरकार और राजनीतिक पार्टियों की नींद खुलती? दिल्ली गैंग रेप अपनी सारी बर्बरता के बावजूद क्या बलात्कार का एक और मामला बनकर पुलिस-कोर्ट तक सीमित नहीं रह जाता? क्या महिलाओं की आज़ादी, सम्मान और सुरक्षा का सवाल हाशिए से राष्ट्रीय राजनीति के केन्द्र में आ पाता? क्या महिलाओं के विभिन्न मुद्दों पर देश भर में शुरू हुई बहस और उससे पैदा हो रही सामाजिक जागरूकता सम्भव हो पाती?

कहने का गरज यह कि छात्र-युवा आन्दोलन और छात्रसंघ किसी भी लोकतांत्रिक राजनीति के प्राणवायु हैं। वे न सिर्फ सरकारों की सामाजिक निगरानी और उन पर अंकुश रखने का काम करते हैं बल्कि उनके जनविरोधी फैसलों के खिलाफ आन्दोलनों की अगुवाई करके नया राजनीतिक विकल्प पैदा करने में भी मदद करते हैं। वे सामाजिक बदलाव के मुद्दों को भी राष्ट्रीय एजेंडे पर लाने में मदद करते हैं। हैरानी की बात नहीं है कि देश और दुनिया में जितने भी बड़े छात्र-युवा आन्दोलन हुए हैं, वे छात्रों-युवाओं के तबके मुद्दों पर नहीं बल्कि तानाशाही के खिलाफ लोकतन्त्र की बहाली के लिए या भ्रष्टाचार के खिलाफ सार्वजनिक शुचिता और पारदर्शिता जैसे मुद्दों पर हुए हैं।

क्या अब भी कहना जरूरी है कि भारतीय लोकतन्त्र के लिए इस आन्दोलन से डरने के बजाय इससे आश्वस्त और आशान्वित होने की जरूरत है? सच पूछिए तो इस आन्दोलन ने भारतीय लोकतन्त्र और समाज को और बेहतर और जीवन्त बनाने में मदद की है। उस अनाम बहादुर लड़की की बलात्कारियों के खिलाफ लड़ाई के बावजूद भी लोग अगर घरों-कालेजों-दफ्तरों से बाहर नहीं निकलते तो यकीन मानिये वह भारतीय लोकतन्त्र के अन्दर बढ़ते संवेदनहीनता के अँधेरे को और गहरा करता, सत्ता और अपराधियों के गठजोड़ का खौफ और बढ़ जाता और लोगों की लाचारी और हताशा और बढ़ती जाती। इस आन्दोलन ने लोगों की इस लाचारी और हताशा को तोड़ा है और साफ़ कर दिया है कि लोकतन्त्र में लोगों से उपर कुछ भी नहीं है।

❑

vkoj.k&dFkk

खुद-मुख्तार होता आम जन

अल्पना मिश्र

पुलिस का आतंक पूरे समाज पर इतना पसरा होता है कि किसी घायल को देखकर शायद ही कोई उसे अस्पताल पहुँचाने की हिम्मत करे। लोगों को भय है कि पुलिस परेशान करेगी।

इन दिनों मुझे मुक्तिबोध की 'भूल गलती' कविता बार बार याद आ रही है। यही हमारी 'भूल गलती' जिरह बख्तर पहन कर हमारे उपर राज कर रही है और उसका दबदबा ऐसा है कि किसी की सुन ली जाएगी, ऐसी कोई सूरत ए हाल बनती नहीं दिखती। 'हठ इनकार में सिर तानने' वाले को, चाहे वह किसी भी क्षेत्र में हो, बख्श दिया जाएगा, इसकी भी उम्मीद नहीं दिखती। देश में प्रशासन, व्यवस्था के हालात, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद बेहतर होने की बजाय बिगड़ते हुए इस स्थिति तक आ पहुँचे हैं कि आम नागरिक के लिए अपने कर्तव्यों का बेहद सामान्य स्तर पर पालन करना भी मुश्किल होने लगा है। हालाँकि लगातार यह बताया जा रहा है कि यदि पुलिस किसी वारदात के समय वक्त पर नहीं पहुँचती तो उसका इन्तजार न किया जाए, बल्कि उसका इंतजार किया ही न जाए।

पिछले दिनों सोलह दिसम्बर को दिल्ली में घटे क्रूरतम, अमानवीय सामूहिक बलात्कार कांड ने एक बार फिर से उन बहसों को तेज किया है, जिनकी मुखरता धीमी पड़ रही थी। असमानता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था के पुनर्मूल्यांकन का स्वर प्रखर हुआ है। इस कांड से उठी न्याय और सुरक्षा की माँग ने अपने सन्दर्भ को बहुत व्यापक बना लिया है और अब यह स्त्री की सम्पूर्ण आजादी की माँग में बदलती हुई दिख रही है। इसने पितृसत्ता तथा वर्चस्ववादी ताकतों के आगे बड़ी चुनौती खड़ी कर दी है। इससे आन्दोलित युवा वर्ग, स्त्रियाँ और बूढ़े बुजुर्ग भी खुल कर कार्यपालिका के फंक्शन पर सवाल उठा रहे हैं और न्यायपालिका, व्यवस्थापिका को दुरूस्त किए जाने का मुद्दा उठा रहे हैं। निश्चित ही यह एक कांड से उपजा गुस्सा भर नहीं है, यह जनता के भीतर अब तक का संचित गुस्सा है, जो व्यवस्था के अपना काम ठीक से न करने, न्यायप्रक्रिया के आम आदमी से दूर हो जाने या न्याय मिलने की स्थितियों के दुर्गम हो जाने, भ्रष्टाचार, शोषण और अपमान के खुलेआम होते रहने ने पैदा की है और जिसे इस बर्बर दुष्कृत्य ने झकझोर कर बाहर कर देने का काम किया है।

दरअसल अब जो भयानक स्थितियाँ जनता के सामने खुलती चली जा रही हैं, वे बहुत डराने वाली हैं। हालात ऐसे बनाए जा रहे हैं

लेखिका कथाकार और दिल्ली वि.वि. में प्राध्यापिका हैं।
alpana.mishra@yahoo.co.in
+919911378341

कि कभी भी किसी भी आम आदमी की बेटी, बहन, पत्नी, माँ या दोस्त को उसके सामने ही उठाया जा सकता है, क्रूर से क्रूरतम अपराध उनके साथ सरेराह किया जा सकता है। अधुनातन कहा जाने वाला समाज सभ्यता के बर्बर अँधेरे में जाने को विवश बनाया जा रहा है। राजनीतिक हलकों से निकल कर कोई कुछ करेगा, इसकी उम्मीद जनता को नहीं है। लगातार हमारे नेतृत्व कर्ताओं के जो अमृत वचन इस सन्दर्भ में सुनाई पड़ रहे हैं, वे उनकी पितृसत्तात्मक सामन्ती सोच को तो उजागर करते ही हैं, जनता के भीतर उनके प्रति हताशा को और बढ़ाते हैं।

अब जो हालात दिल्ली ही नहीं पूरे देश में बनते जा रहे हैं, उसने युवा वर्ग के साथ साथ माता-पिता को भी गहरी चिंता में डाल दिया है। अपनी लड़कियों को पढ़ने के लिए, नौकरी के लिए बाहर भेजना खतरे से खाली नहीं है। देश के विभिन्न भागों से प्रायः प्रतिदिन बलात्कार की घटनाएँ सुनने में आ रही हैं। और फिर यह तो दिल्ली है, देश की राजधानी। इस समय शिक्षा की राजधानी भी बनी हुई है। इस समय नौकरियों के लिए भी बहुत सम्भावनाएँ यहाँ हैं, जो दूर दूर से युवाओं को यहाँ खींचे ला रही हैं। देश का प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति तथा अनेकानेक प्रभुत्वशाली शक्तियों का यहाँ निवास है। ऐसे में यहाँ तो व्यवस्था चाक-चौबन्द होनी चाहिए थी। राजधानी की बेरीकेटिग पर सिपाही का तैनात न होना और किसी ऐसी बस का बेरीकेटिग से महफूज गुजर जाना या उसका नम्बर नोट करके, उससे टोल टैक्स ले कर छोड़ा जाना, व्यवस्था, कानून और प्रशासन पर सवाल खड़ा करता है। दिल्ली में लगातार स्त्रियों के प्रति अपराध खतरनाक तरीके से बढ़े है, लेकिन प्रशासन की कुम्भकर्णी नींद नहीं टूटी। आज जब जनता के भीतर लम्बे समय से बढ़ता असंतोष इस जघन्य घटना से हद पार करके सामने आ गया है तो भी इसे रोकने के उपाय पर बल दिया जा रहा है। लाठी चार्ज, आँसू गैस और पानी की बौछार से उन्हें हटाने का प्रयास किया जा रहा है। जबकि इसमें सबसे सबल पक्ष यह है कि यह जनआक्रोश किसी राजनीति या धर्म, जाति से प्रेरित नहीं है। बल्कि यह आम आदमी की आवाज है, जो व्यवस्था से अपने लिए बेसिक नागरिक अधिकारों की माँग कर रहा है। अपने और अपनी लड़कियों की सुरक्षा की माँग कर रहा है। दरिन्दगी के इस कृत्य ने एक बार फिर भय का माहौल तैयार किया है। इस भय के दायरे में केवल लड़कियाँ ही नहीं आती हैं, वे युवा लड़के भी आ जायेंगे, जो अपने आप को सामन्ती दिमागी कंडिशनिंग से कुछ मुक्त करते हुए अपनी महिला मित्रों के साथ समान व्यवहार करते हैं और इस तरह के हिंसक आक्रमण के दौरान उनके साथ लड़ने का हौसला भी रखते हैं। जो संवेदनशील और बहादुर बच्चे हैं, उन सब के मनोबल को गहरा आघात पहुँचाने की कोशिश है यह कांड।

इस काण्ड की गहराई में जाने पर कई और सवाल उठते हैं। पहला तो यह कि यह केवल गैंगरेप भर नहीं है। यह बर्बर हिंसा के द्वारा पुरूष वर्चस्व को समाज में मनवाने का एक तरीका है। इसके पीछे बहुत गहरे पितृसत्ता के वे संस्कार हैं जो स्त्री को भोग विलास की वस्तु से अधिक कुछ नहीं मानते हैं और उसका मनमाना इस्तेमाल करने को पुरुष के अधिकार क्षेत्र में रखते हैं। स्त्री के प्रतिरोध करने पर उसे किसी भी हद तक दण्डित करने की छूट भी हमारा समाज बार-बार प्रदर्शित करता रहा है। इसलिए आज, जब लड़कियाँ अपने लिए थोड़ा सा स्पेस हासिल कर पायी हैं, पढ़ने लिखने लगी हैं, तो गैरबराबरी और अन्याय को लेकर प्रश्न भी उठाने लगी हैं। आर्थिक आत्मनिर्भरता ने जाने-अनजाने कुछ निर्णय लेने की आजादी भी उनके हिस्से में डाल दी है। यद्यपि आज के आधुनिक समय में भी नौकरी करने वाली लड़कियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे पितृसत्ता की उसी पुरानी नियमावली के अन्दर रहें और अपनी तनख्वाह लाकर घर में दे दें। अपने खर्च का हिसाब घर के मुखिया को बताएँ और उसी की अनुमति के अनुसार अपना जीवन जीयें। उन्हें उनकी ही तनख्वाह में से खर्च के लिए जो पैसा दिया जाता है, वह मानो उनके उपर अहसान होता है। पितृसत्ता स्त्री को दी गयी आजादी के सारे लाभ लेना चाहती है, इसलिए उसे अपने कंट्रोल से बाहर जाने देना उसे मंजूर नहीं है। इसके बावजूद आर्थिक सक्षमता तमाम चीजों को बदल देती है। वर्जीनिया वुल्फ की यह बात यहाँ मुझे याद आ रही है कि 'आर्थिक आत्मनिर्भरता व्यक्ति के स्वभाव को बदल देती है।' यह निश्चित ही सच है। आर्थिक सक्षमता जिस तरह का आत्मविश्वास पैदा करती है, वह स्त्री के व्यक्तित्व और बुद्धि के बेहतर इस्तेमाल की तरफ उसे ले जाता है। यह भी कि यह आत्मविश्वास उसे पितृसत्ता की नियमावली के कटघरे में पूरी तरह फिट नहीं बैठने देता। वह असूर्यपश्या और अनुगता की छवि को तोड़ देती है। तर्क और बहस में उतरती स्त्री पितृसत्ता को प्रिय नहीं हो सकती। वह जितना ही पकड़ से छूटती दिखती है, पितृसत्ता द्वारा उन्हें नियन्त्रित करने के तरीके उतने ही बढ़ते जाते हैं। कहीं ये तरीके बहुत बारीक होते हैं और कहीं बहुत खुले हुए। कहीं कहीं तो बहुत अधिक हिंसक और क्रूर हुए हैं। खाप पंचायतों और उन्हीं की तरह अन्यों द्वारा अपने बच्चों की हत्याओं के रूप में यह बार-बार सामने आता रहता है। यह सच है कि लड़कियाँ जितना ज्यादा पितृसत्ता के दायरे से बाहर निकलती जायेंगी, शिक्षा और आर्थिक आत्मनिर्भरता की तरफ बढेंगी, उतना ही उन्हें नियन्त्रित करने के तरीके क्रूर होते जा सकते हैं।

आज यह भी हुआ है कि लड़कियों ने परम्परा से चली आ रही उन रूढ़ियों को तोड़ा है, जिसमें सिर्फ पुत्र ही माता पिता के बुढ़ापे का सहारा, संकट में काम आने वाला और आर्थिक संबल प्रदान करने वाला और इस प्रकार 'पुं' नामक नरक से त्राण दिलाने वाला होता है। 'पुं नामकं नरकस्य त्रायते इति पुत्रः' ऐसा कहा गया है। इस रूढ़ि के टूटने के साथ माता-पिता की अपेक्षा भी अपनी बेटियों से बढ़ी है और वे अपनी लड़कियों की शिक्षा पर होने वाले महँगे खर्च का भार उठाने को तैयार हुए हैं। इस जिम्मेदारी को उठाने को लड़कियाँ भी तैयार हुई हैं। वे नौकरियाँ कर रही हैं, पब्लिक ट्रांसपोर्ट से अपनी ड्यूटी से घर लौट रही हैं, नाइट शिफ्ट में काम करने की हिम्मत कर रही हैं। वे डॉक्टर हैं तो रात में इमरजेंसी देखने जा रही हैं। माता-पिता की आँखों में यह ललक बढ़ी है कि उनकी बेटी उँचा पैसा और रूतबा कमा कर समाज में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ायेगी और उनकी परेशानियों को दूर कर देंगी। लेकिन हमारी व्यवस्था और उसके संचालक इस परिवर्तन को स्वीकार

करके समाज को स्त्री के काम करने लायक बनाये जाने को महत्त्व नहीं दे पा रहे हैं।

कानून व्यवस्था इसका एक और विचारणीय पहलू है। आज बलात्कार की जितनी भी घटनाएँ हो रही हैं, उनमें अपराधियों को क्या सजा मिल पा रही है? लम्बी कानूनी प्रक्रिया लड़की और उसके परिवार के मनोबल और धन बल दोनों को तोड़ कर रखने के लिए काफी है। जघन्य से जघन्य अपराधी कानून की कृपा से बीसों साल दबंगयी की जिन्दगी काट लेता है। उसके बाद भी कुछ होगा, यह तय नहीं होता। इस तरह आम आदमी के सामने कानून की निर्थकता रोज सिद्ध की जा रही है। अपराधियों के हौसले बुलन्द हैं। प्राय: सत्ता और पावर दोनों का साथ उन्हें कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं अप्रत्यक्ष मिला हुआ है। वे कुछ भी कर सकने और फिर उसके परिणाम से छूट निकलने के सारे रास्ते अपनी मुट्ठी में समझते हैं। घोटालों, भ्रष्टाचार के सच आए दिन सामने आ रहे हैं। व्यवस्था के नाम पर जो आम आदमी को दिख रहा है, वह है सरकारी तन्त्र का लगातार पिछड़ते जाना। बल्कि इसे 'सिस्टम फेलियर' की स्थिति कहना ज्यादा ठीक होगा।

कानून, व्यवस्था, सत्ता और ताकत के गठजोड़ के साथ पितृसत्ता इस तरह के अपराधों का इल्जाम बड़ी बेशरमी से स्त्रियों के माथे मढ़ती है। कभी ड्रेस कोड का मसला उठा कर, कभी विवाह की उम्र कम करने की बात उठा कर, कभी यह उपदेश देकर कि लड़कियाँ अकेले न निकलें, समूह में निकलें या भाई या पिता को साथ लेकर। यह तो स्त्री को, पीढ़ियों के संघर्ष से बनी जगह से उसे उखाड़ कर वापस पुरानी स्थितियों में पहुँचाना है। यह आज के समय में कैसे सभम्व है कि वे अकेले न निकलें? उन्हें नौकरी करनी है। वे उच्च शिक्षा ले रही हैं, कोचिंग कर रही हैं और भी तमाम काम उनके जिम्मे हैं। केवल महानगरों में ही नहीं छोटे शहरों में भी लड़कियाँ बाहर निकल रही हैं। महानगरों में तो यह सम्भव ही नहीं है कि वे रोजाना अकेली बाहर न निकलें। तमाम लड़कियाँ, लड़कों की ही तरह सिर्फ नौकरी करने आयी हैं। उन्हें अकेले रहना है। तमाम लड़कियाँ अकेले पढ़ने आयी हैं। उन्हें भी तमाम काम अकेले करने हैं। 'अकेले न निकलना' कोई विकल्प नहीं है।

एक और बड़ा सवाल उठता है बाजार द्वारा स्थापित किए जा रहे मूल्यों को लेकर। बाजार ने संवेदना, नैतिकता और मानवीय मूल्यों को पिछड़ेपन के प्रतीक के रूप में समझाने और स्थापित करने की कोशिश की है। संवेदना और विवेक बाजार के लिए अनुपयोगी हैं। वह इसे जीवन के लिए भी अनुपयोगी बनाने की कवायद कर रहा है। स्वार्थ, क्रूरता और महत्त्वाकांक्षा के लिए कुछ भी रौंद कर निकल जाने को नये मूल्य के रूप में सामने लाया जा रहा है। मनुष्य सिर्फ उपभोक्ता में बदला जा रहा है। उसे कुछ भी खरिदवा देने के लिए मानसिक रूप से तैयार किया जा रहा है। यहाँ तक कि उसके लिए मनोरंजन क्या होना चाहिए, यह भी पूंजी के वर्चस्व का तन्त्र तय करेगा। आप इसे पूर्व प्रायोजित हिंसक खेलों डब्ल्यू डब्ल्यू एफ आदि से लेकर रोमांचक खेलों के नाम पर अमानवीय क्रूर खेलों के रूप में देख सकते हैं।

इसी तरह स्त्री को उसकी बुद्धि से काट कर एक अलग तरह की पूज्य नैतिकता का या फिर निहायत बेशरम देह सम्बन्धों का एक नया सीमित दायरा दिखाया बताया जा रहा है। उसे एक बार फिर भयानक वस्तुकरण की प्रक्रिया की तरफ ढकेला जा रहा है। उच्श्रृंखलता और स्वतन्त्रता के भेद को मिटा देने की कोशिश आप साफ-साफ देख सकते हैं। उच्श्रृंखलता किसी का सम्मान नहीं करती, किसी को प्यार नहीं करती, न्याय-अन्याय की बात उसके लिए नहीं है। वह खुदगर्ज है। लेकिन स्वतन्त्रता विवेक बुद्धि की माँग करती है। उसके निर्णयों के साथ जिम्मेदारी जुड़ी होती है। इन दोनों को एक दूसरे का पर्यायवाची नहीं बनाया जा सकता। इस सब में एक और नये तरह का गेम बाजार ने उतारा है- वर्चुअल रेप गेम। इसकी सी डी सहज उपलबध है और यह पोर्न की दुनिया का एक नया आविष्कार है। इसमें स्त्री सिर्फ एक सेक्स आबजेक्ट है और उसके साथ क्रूरतम अपराध दिनदहाड़े सड़क पर किया जा सकता है। इस गेम में ऐसा ही करते हुए कुछ मुस्टंडे दिखाई पड़ते हैं। यह स्त्री के प्रति अपराध की दरिंदगी को उकसाने वाला और उसे निकृष्टतम प्राणी सिद्ध करने वाला एक घातक हथियार है। इसे रोकने का कोई उपाय करती व्यवस्था हमारे पास नहीं है।

आज जनता और युवा जिस न्याय की माँग कर रहे हैं, उसके लिए हमारे यहाँ सही कानून व्यवस्था नहीं है। न्याय की स्थिति तभी बनेगी, जब कानून प्रक्रिया बदलेगी, फास्ट ट्रैक अदालतें बनेंगी और ऐसे सभी केस एक निश्चित सीमा के अन्दर निपटाना आवश्यक होगा। जिस तरह का दिल दहला देने वाला दुर्लभतम अपराध यह है, उसकी सजा बलात्कार के अपराध के लिए तय की गयी सजा नहीं हो सकती। एक तो यह सजा कम है दूसरे पूरी प्रक्रिया जिस तरह की है, उसमें न्याय की सम्भावना भी सीमित रह जाती है। प्रशासन की जिम्मेदारिया कार्यरूप में कैसे दिखें? यह भी नये सिरे से तय किया जाना चाहिए। इसलिए पूरी व्यवस्था को सुधारने, बदलने की माँग कमजोर नहीं पड़नी चाहिए। स्त्री की सुरक्षा और एक नागरिक की पूरी आजादी की माँग बेहतर दुनिया बनाने की माँग भी है। असन्तुलन कभी बेहतर स्थिति नहीं पैदा कर सकता। स्त्री और पुरूष की साथी और सहयोगी की भूमिका ही समानता का समाज बना सकती है। आज की सत्ता, व्यवस्था और उसकी स्वार्थ भरी, भ्रष्ट चालाकियाँ, नियन्त्रण की दमनकारी नीतियाँ... बच्चों को भी समझ में आने लगी हैं और हर व्यक्ति 'हठ इनकार का सिर ताने खुद मुख्तार' की स्थिति में खड़ा होने लगा है। अब उसे अपनी बात किसी नेता की अगुवाई के बिना मजबूती से कहना और मनवाना है। तब एक बार फिर मुक्तिबोध की यही कविता मुझे याद आ रही है, हमें चौकन्ना करती, शाही मुकाम के चमकते ताम झाम को पहचानने की सलाह देती-

''मेरी आपकी कमजोरियों के स्याह लोहे का जिरह बख्तर पहन, खूंख्वार हाँ, खूंख्वार आलीजाह
वो आँखें सचाई की निकाले डालता
सब बस्तियाँ दिल की उजाड़े डालता
करता, हमें वह घेर,
बेबुनियाद, बेसिर पैर...
हम सब कैद हैं उसके चमकते तामझाम में, शाही मुकाम में!!''

❑

सियासत का बदलता नजारा

आदित्य निगम

पितृसत्तात्मक सोच बलात्कार को एक ऐसी शर्मनाक चीज बना देती है कि उसे करने वाले नहीं बल्कि जिन पर वह सितम ढाया जाता है उन्हें ही इस तरह शर्मसार होना पड़ता है मानो इसके आगे जिन्दगी अन्धकारमय है और इस स्थिति से मौत ही एकमात्र निजात का रास्ता है।

दिल्ली में 16 दिसम्बर का 'सामूहिक बलात्कार' कांड और उसके बाद का प्रतिरोध कई सवाल खड़े करता है। यह दिल दहला देने वाली घटना भी शायद अन्य ऐसी घटनाओं की तरह कहीं गर्क होकर रह जाती अगर उसके बाद विरोध की एक जबरदस्त आंधी नहीं आ गयी होती।

आखिरकार, बलात्कार हमारी संस्कृति में नया कुछ तो नहीं है। एक मायने में शायद बहुत ही आम बात है। बेशक मोहन भागवत और उनके मुरीद यह मानते हों कि ऐसा कांड सिर्फ 'इंडिया' में होता है, 'भारत' में नहीं, इस बात से कौन इनकार कर सकता है कि उनके चहेते भारत में बलात्कार या खबर- एक रोजाना की घटना है? दलित औरतों पर तो यह कहर रोजाना ढाया ही जाता है। खुद सवर्ण घरों में भी चहारदीवारियों के भीतर क्या कुछ नहीं होता जो अनकहा, अनसुना रह जाता है? खुद शादी की औपचारिकता के भीतर और बाहर औरतों को अक्सर अपने सगों की 'हवस' का शिकार हो जाना पड़ता है।

मगर जैसा कि नारीवादी कार्यकर्त्ता हमें बार-बार आगाह करते आये हैं, बलात्कार सिर्फ 'हवस' का या सेक्स का मामला नहीं है। बलात्कार हमेशा साथ ही साथ सत्ता का मामला भी होता है और हमारे यहाँ ऐसे उदाहरण कम नहीं मिलेंगे जो यह दिखाते हैं कि 'पटरी से उतरी हुई औरतों' को वापस पटरी पर लाने के लिए बलात्कार को भी एक जरिया माना जाता रहा है। जब 16 दिसम्बर की घटनाओं के खिलाफ आन्दोलन अपने शिखर पर था, तब हमारे मित्र शब्रत सेनगुप्त ने काफिला (kafilaaorg) पर छपे एक लेख में वृहदारण्यक उपनिषद से एक उद्धरण देकर इस बात की पुष्टि की कि किस तरह एक मर्द को उसमें यह अख्तियार दिया गया है कि वह किसी भी औरत से दैहिक रिश्ता कायम कर सकता है-अगर बहलाने फुसलाने से ना माने तो जबरन उसे अपने वश में ले सकता है। बहरहाल, शास्त्रों की बात को फिलहाल छोड़ भी दिया जाये तो भी इस बात से इनकार करना मुश्किल है कि हमारे वर्तमान समाज में जिस स्तर तक नारी-विद्वेष व्याप्त है वैसा शायद ही किसी समाज में हो। लिहाजा, मोहन भागवत साहब और उनके मतावलम्बी बुद्धिजीवियों पर फिलहाल और वक्त जया ना करके कुछ और जरूरी सवालों

लेखक सीएसडीएस में वरिष्ठ फेलो हैं।
anigam98@gmail.com
+919871406520

से रूबरू हुआ जाये।

16 दिसम्बर के बाद स्वत:स्फूर्त विरोध प्रदर्शनों का जो सिलसला शुरू हुआ उसने एक बात तो साफ कर दी कि हमारा समाज बड़ी तेजी से बदल रहा है और आज की युवा पीढ़ी अब महज राजनीतिक पार्टियों के हाथ में जरूरी फैसले छोड़ कर संतोष कर लेने की मानसिकता से निजात पा रही है। उसका एतबार पार्टियों पर से उठ चुका है। इस विषय पर मैं थोड़ी देर में लौटना चाहूँगा मगर एक बात और है जो इस आन्दोलन के सन्दर्भ में कबीले-गौर है। वह यह कि शायद पहली बार हमने देखा कि बहुत बड़े पैमाने पर बलात्कार के बारे में हमारे बात करने का अंदाज, उसके बारे में हमारी सोच, बदल रही है। बावजूद इसके कि हमारे राजनीतिक रहनुमाओं ने एक से एक शर्मनाक बयान देकर अपना दकियानूसीपन सबके सामने उघाड़ कर रख दिया, और घुमा-फिरा कर औरतों के आचरण को ही बलात्कार का जिम्मेदार ठहराया। नौजवानों में उनके इन ख्यालों का कोई खरीददार शायद ही दिखाई दिया हो। मर्द अगर खुद पर काबू रख पाने में असमर्थ हैं, तो होना तो यही चाहिए कि उन्हें ही घर के भीतर, आँखों पर पट्टी बाँध कर कैद रखा जाए, जैसा कि मशहूर बंगला कहानीकार रोकेया सखावत होसैन ने पिछली सदी के शुरुआती सालों में अपनी कहानी 'सुल्ताना का सपना' में सुझाया था।

जाहिर है कि जब दिल्ली की सड़कों पर उमड़ते हुजूम इनसाफ की मांग कर रहे थे तब उनके जहन में वह सब नहीं था जो हमारे राजनेताओं के दिमाग में चल रहा था। बेशक ऐसी आवाजें भी थीं जो उसी पुरुष-प्रधान नजरिए से बलात्कार को 'इज्जत' और 'आबरू' का सवाल बना छोड़ने पर आमादा थीं। यह बात ध्यान रखने काबिल है कि हर तरह की 'आबरू' की इबारत औरत की देह पर ही लिखी जाती है - मुल्क-ओ-कौम की इज्जत, समुदाय की इज्जत, परिवार की आबरू और खुद औरत की आबरू। और इज्जत का यह बोझ ढोते-ढोते औरत की खुद की हस्ती, उसकी अपनी हसरतें, उसके अरमान सब बलि चढ़ा दिए जाते हैं। मगर इस सब के विपरीत, इस बार जो नारे सड़कों पर सुनायी दिए उनमें बहुतेरे ऐसे थे जो 'इज्जत' की इस तकरीर से बहुत दूर थे, जो सीधे-सीधे सड़कों और सार्वजानिक जगहों पर औरतों के हक की बात करते थे। इन नारों में कहीं 'रात वापस लेने' का आह्वान था तो कहीं अपनी बेबसी छोड़ कर आजादी का जश्न मनाने का आग्रह।

पितृसत्तात्मक सोच बलात्कार को एक ऐसी शर्मनाक चीज बना देती है कि उसे करने वाले नहीं बल्कि जिन पर वह सितम ढाया जाता है उन्हें ही इस तरह शर्मसार होना पड़ता है मानो इसके आगे जिन्दगी अन्धकारमय है और इस स्थिति से मौत ही एकमात्र निजात का रास्ता है। समाज की यह सोच हमारी फिल्मों में भी लगातार देखने को मिलती है जहाँ बलात्कार के बाद आत्महत्या कर के ही औरत अपने परिवार की आबरू बचाती है। इसके विपरीत, नारीवादियों ने पिछले दशकों में बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि बलात्कार बेशक कितना ही घिनौना और हिंसात्मक क्यों न हो, उसे औरत के लिए शर्मिंदगी और आबरू का मसला नहीं मानना चाहिए बल्कि उसे किसी भी अन्य हादसे की तरह देखना चाहिए जिससे उबर कर लोग फिर स्वाभाविक जिन्दगी में लौट आते हैं।

इसी से कुछ हद तक जुड़ा एक और सवाल है मृत्युदंड का। वैसे तो पिछले समय में मानवाधिकार आन्दोलन आदि ने हमें मृत्युदंड के बारे में नये सिरे से सोचने के लिए आमंत्रित किया है और आज एक बढ़ती हुई जमात में इसके खिलाफ एक राय बन रही है। मगर इसके अलावा भी, खास तौर पर बलात्कार के सन्दर्भ में, मौत की सजा का विरोध नारीवादियों की तरफ से एक अन्य कारण से भी किया जा रहा है। कारण यह कि अगर कत्ल और बलात्कार की सजा एक ही होगी तो सुबूत मिटा देने के लिए बलात्कारी औरत का खून तक करने को तैयार हो सकता है, जिसकी कई मिसालें देखने को मिलती हैं।

आखिर में एक बात सियासत के बदलते नजरिये के बारे में। इस आन्दोलन और उस में उमड़ पड़े जनसैलाब को एक अलग-थलग घटना के रूप में देखना गलत होगा। इस आन्दोलन का पस-मंजर पिछले दशकों में उभरे राजनीति के खोखलेपन से जुड़ा है। इस दौर की - खासकर ङ्कष्टष्ट्रद्ग के बाद के समय की - एक खासियत तो यह थी कि इस में पिछड़ी और दलित पार्टियों का राजनीतिक क्षितिज पर उदय हुआ और उनमें से कई अलग अलग राज्यों में सत्ता पर काबिज भी हुईं। मगर इसी दौर की एक खासियत यह भी है कि इसी में एक तरफ नव-उदारवाद का उदय और बड़े कोर्पोरेट मीडिया का उदय - लगभग एक साथ हुआ। और दोनों की साझी कारसाजी से एक ऐसा माहौल तैयार हुआ जिसमें यह बताया गया कि अब इस नये (नव-उदारवादी) नियम का कोई विकल्प नहीं है। आखिरकार सभी के सामने उस एक ही रास्ते पर चलने के अलावा कोई चारा नहीं है। कम्युनिस्टों से लेकर बसपा और तमाम पिछड़ी जातियों की पार्टियाँ इस नये नियम के जश्न में शरीक हो गयीं। सियासत सड़कों और गली कूचों से गायब हो गयी और राजनीति ने टेलीविजन स्टूडियो में अपनी नयी आरामदेह जगह बना ली। सड़कों पर होने वाले आन्दोलनों की जगह टेलीविजन स्टूडियो और संसद की नूरा कुश्तियों ने ले ली। यह हैरत की बात लग सकती है मगर सच है कि इन दशकों में एक भी ठोस मुद्दा संसद में पार्टियों के जरिये नहीं उठाया गया। सारे अहम मुद्दे सामाजिक/ जन आन्दोलनों की तरफ से उठाये गये।

और तो और, पिछले समय में ही तमाम तरहों से सरकारी खजाने और मुल्क की प्राकृतिक सम्पदाओं की बेलगाम लूट ने हम सब को बेबसी के एक ऐसे आलम में पहुँचा दिया जहाँ हमारे पास करने को कुछ भी न रह गया। यही वह पस-मंजर है जिसमें अन्ना हजारे के आन्दोलन का अविर्भाव हुआ। इस बात को भी नजरन्दाज नहीं किया जा सकता है कि उसी आन्दोलन के दौरान पूरे समाज में जो हरकत पैदा हुई उसी के असर हैं जो अलग-अलग ढंग से उसकी रगों में प्रवाहित हो रहे हैं। उसी के साथ इस आन्दोलन के भी तार जुड़े हैं। इन आन्दोलनों ने एक नयी आशा जगाई है और पिछली दहाइयों में छाए बेबसी के माहौल को तोड़ा है। इससे और कुछ नया निकले या ना निकले, एक बात तो तय है - इसके बाद हमारा जनतन्त्र भी बदले बिना नहीं रह सकेगा। जहाँ अब तक राजनीतिक पार्टियों के जरिये ही सियासत होती थी अब वे शायद कई खिलाड़ियों में एक खिलाड़ी भर होंगे। आने वाल वक्त में जम्हूरियत के पूरे ढांचे के बारे में नये सिरे से सोचना होगा।

❑

यकीनन, समाधान है साहस

प्रफुल्ल कोलख्यान

इस तरह की भयावह घटनाओं को रोकने के लिए संवैधानिक, प्रशासनिक, पारिवारिक, शैक्षणिक और सामाजिक स्तर पर सारे प्रयास किये जाने की तात्कालिक जरूरत को पूरा करने के लिए जोरदार कदम उठाया जाना जितना जरूरी है उतना ही जरूरी है इसके दीर्घकालिक समाधान के लिए इसके अन्तर्निहित कारकों को पहचाना और समझा जाये। विकास के चरित्र की असंगतियों को पहचान कर उसे दुरुस्त किया जाये।

सामान्य रूप से असहिष्णुता, हिंसा, शोषण, अपराध, क्रूरता और पर-पीड़कता का प्रसार बहुत तेजी से हो रहा है। इसका सबसे बुरा असर महिलाओं की स्थिति पर हो रहा है। महिलाओं पर स्त्री होने के कारण शारीरिक और मानसिक अत्याचार और अनाचार की भारी बढ़त ने सभी को सकते में डाल दिया है। घर, परिवार, हाट, बाजार, सड़क, दफ्तर, खेत, कारखाना, विमान, रेल, बस, कार, अस्पताल, स्कूल, शहर, गाँव, जंगल, पहाड़ कोई जगह निरापद नहीं है। बूढ़ी, जवान, बच्ची, विकलांग, गरीब, अमीर, शिक्षित, अशिक्षित कोई नहीं खतरे से बाहर है। इस पर कैसे काबू पाया जाये? इसके कारणों को कैसे ठीक-ठीक पकड़ा जाये? इस तरह के वातावरण बन जाने का जीवन के अन्य क्षेत्र, रोजी-रोजगार, खेल-कूद, भ्रमण-पर्यटन, इश्क-मुहब्बत, सामान्य अंतर्वैयक्तिक सम्बन्धों, हास-विलास, सामान्य भावनात्मक आदान-प्रदान, विश्वास की पारस्परिकता, व्यक्तित्व विकास पर पड़ने वाले असर को कैसे समझा जाये? बलात्कार के कितने तो रूप हैं, भाषिक बलात्कार, संवेगात्मक बलात्कार, निरुद्धात्मक बलात्कार, प्रतिशोधात्मक बलात्कार, लोभ-लालच के जाल में फँसाकर हासिल सहमति के हवाले से बलात्कार आदि। भयानक जानलेवा बलात्कार की घटनाओं की ही इतनी ज्यादा बढ़त हो गयी है कि उसी के प्रभाव से निकलना मुश्किल हो रहा है। यहाँ बहुत अवकाश नहीं है फिर भी इतना तो कहना ही होगा कि विकास के गलत रास्ते पर हम चल पड़े हैं इस रास्ते की जाँच की जानी चाहिए। यह समझना भोलापन है कि विकास के गलत रास्ते से इसका कोई सम्बन्ध नहीं हैं। जारी विकास के चरित्र को समझे बिना बात साफ नहीं हो सकती है। जारी विकास के चरित्र को समझे बिना न तो असहिष्णुता, हिंसा, शोषण, अपराध, क्रूरता और पर-पीड़कता के प्रसार को समझा जा सकता है और न ही महिलाओं पर स्त्री होने के कारण शारीरिक और मानसिक अत्याचार और अनाचार की भारी बढ़त और उस पर होनेवाली विभिन्न प्रतिक्रियाओं को ही समझा जा सकता है।

उस रात दिल्ली में जो हुआ वह बहुत ही

लेखक साहित्यकार और विचारक हैं।
prafullakolkhyan@gmail.com
+919433759016

भयानक था। देश की राजधानी में इस तरह की घटना और उसकी ऐसी भयावह परिणति बहुत ही परेशान करनेवाली थी। घटना के तुरन्त बाद सामने दिखा नागरिक रवैया, प्रशासनिक रवैया खतरनाक सामाजिक संकेतों से भरा हुआ है। मीडिया की भूमिका धीरे-धीरे गहराती हुई तूफान में बदल गयी। नागरिकों का रवैया भी तीखा होता गया। प्रशासन पर भी भारी दबाव पड़ने लगा और उसकी तत्परता में वृद्धि हुई। पूरा माहौल क्रोध और उत्तेजना से भरा हुआ था। क्रोध और उत्तेजना उस समय स्वाभाविक ही थी, लेकिन क्रोध और उत्तेजना की मन:स्थिति में विचार के संतुलन को बनाये रखना सम्भव नहीं होता है। हर कोई कुछ-न-कुछ कह रहा था, माध्यम उसका चाहे जैसा और जो हो। कोई चैनल पर अपनी प्रतिक्रिया दे रहा था, कोई दोस्तों में इस पर बात कर रहा था, कोई परिवार में चर्चा कर रहा था। फेसबुक और सोशल मीडिया पर लोगों की अपनी सक्रियता तो थी ही। चुप कोई नहीं था। निंदा और भर्त्सना सभी प्रतिक्रियाओं में सामान्य थी। दोषारोपण की भी प्रवृत्ति चरम पर थी। उस दौर को याद करना एक त्रासद अनुभव से गुजरना है। अब ठहर कर इस तरह की बढ़ती हुई घटनाओं पर गम्भीरता से सोचने की जरूरत है। सोचने की जरूरत है कि इस खतरनाक प्रवृत्ति पर रोक कैसे लगे। सोचना यह है कि नागरिक सुरक्षा और महिलाओं की सामाजिक स्थिति कैसे निरापद बने। सोचना यह है कि इसमें प्रशासन की भूमिका को कैसे अधिक प्रभावी बनाया जाये। सोचना यह है कि कैसे कानूनी प्रावधानों में सुधार लाया जाये। सोचना यह भी जरूरी है कि नागरिकों की सामाजिक भूमिका को कारगर, प्रभावी और प्रशासनिक परेशानी से कैसे मुक्त किया जाये। सोचने के इस क्रम में सबसे पहले जरूरी इस बात को ध्यान में रखना होगा कि असहमतियों के लिए न सिर्फ गुंजाइश हो बल्कि न्यूनतम सम्मान भी हो और जाहिर है कि असहमतों की नीयत पर शंका या चोट करने से आयासपूर्वक बचा जाये।

हिन्दी के नामी लेखकों के एक अंश में इस बात पर रोष है कि घटना के प्रतिवाद में लेखक संगठनों की कोई प्रभावी भूमिका नहीं रही। जिनके मन में सबसे ज्यादा रोष है वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं और जितनी अच्छी तरह से जानते हैं उससे भी अधिक दृढ़तापूर्वक मानते हैं कि लेखक संगठनों की ही कोई प्रभावी उपस्थिति नहीं है समाज में। इस पर अधिक कहना जरूरी नहीं है, जरूरी यह याद दिलाना कि जब राजनीतिक आपातकाल के लागू किये जाने के प्रतिवाद में ही लेखक संगठन की कोई भूमिका नहीं सामने आई थी उसी समय इस पड़ताल की जरूरत थी कि सामाजिक मामलों में, और कदाचित राजनीतिक मामलों में भी, लेखक संगठनों से हम क्या उम्मीद रखते हैं और समाज क्या उम्मीद रखता है। समाज, हिन्दी समाज, अपने लेखकों को कितना और किस रूप में पहचानता है। असल में लेखकों या लेखक संगठनों के प्रति यह रोष समाज में नहीं है, और ठोस रूप से कहें तो पाठक समाज में नहीं है कि उसके लेखक या लेखक संगठन क्यों नहीं प्रभावी भूमिका में आ सके। यह रोष लेखकों के तथाकथित समाज के एक अंश में है और जाने-अनजाने इसका कुत्सित इस्तेमाल हो रहा है। मुझे नहीं मालूम कि हिन्दी लेखकों के अलावे और किस भाषा के लेखकों में इस तरह की चर्चा है या रोष है या इस मामले में उनकी क्या भूमिका रही है। असल में इस घटना के प्रतिवाद में जो शक्ति सामने आई वह अपने-आप में अपेक्षाकृत असंगठित थी। इस प्रतिवाद की ताकत और इसकी गतिमयता असंगठित होने में ही थी। कोई भी संगठित प्रयास इसके बेमेल में होता और जिसका सकारात्मक रूप से प्रभावी होना मुश्किल था। लेख भी नागरिक होता है और अपने नागरिक समाज का हिस्सा होता है। इस रूप में अपनी छोटी-बड़ी भूमिका वह अदा करता है और इसे समझने में उसका नागरिक समाज सक्षम होता है, भले ही बड़े तथा अभिभावक सरीखे लेखक अपने साधारण लेखकों की भागीदारी को पहचानने या भागीदारी कर रहे लेखकों को लेखक मानने में उतने सक्षम न हों। इस बात को स्वीकारना चाहिए।

सोशल मीडिया में और समाचार चैनलों पर इस मामले पर चर्चा हुई। इस चर्चा में कई गौर करनेवाली बात सामने आयी। उनकी थोड़ी-सी चर्चा यहाँ अप्रासंगिक नहीं है। ध्यान रहे जब हम किसी के बारे में कुछ कह रहे होते हैं तो अपने बारे में भी जाने-अनजाने बहुत कुछ प्रकट कर रहे होते हैं। बहरहाल, चर्चा का एक स्वर यह था कि इस घटना पर जो नागरिक प्रतिक्रिया हुई वह जरूरत से ज्यादा थी। इस लिहाज से ज्यादा थी कि इस तरह की और इससे भी भयावह घटनाएँ देश के अन्य भाग में होती रहती हैं इस पर दिल्ली का नागरिक समाज और दिल्ली केंद्रित मीडिया इस तरह से सक्रिय नहीं होता है। कई उदाहरण भी दिये गये। बचाव में, जिम्मेवार लोगों ने यह भी कहा कि दिल्ली में हुई घटना और घटना के प्रतिवाद की तीक्ष्णता का अधिक होना स्वाभाविक है। यहाँ एक खतरनाक संकेत छिपा हुआ है। पहला संकेत तो यह कि हमारा नागरिक समाज एक नहीं है। दिल्ली का नागरिक समाज, मुम्बई का नागरिक समाज, कोलकाता, चेन्नई आदि के न सिर्फ नागरिक समाज अलग-अलग हैं, बल्कि इन नागरिक समाजों की हैसियत भी अलग-अलग है (मणिपुर, मेघालय जैसे राज्यों, मोतिहारी, बेतिया जैसे कस्बाई शहरों या बेलछी, पारसबीघा जैसे गाँवों की भी हैसियत अलग-अलग है)। कहना न होगा कि यह हैसियत राष्ट्रीय और प्रान्तीय राजधानियों से उनकी निकटता से तय होती है। राष्ट्रीय राजमार्गों या मुख्य रेलपथ के किनारे रहनेवाले नागरिक समाजों की भी थोड़ी-बहुत हैसियत होती है क्योंकि वे कुछ-न-कुछ अवरुद्ध करने की नकारात्मक स्थिति में होते हैं। जो इन सबसे बहुत दूर-दराज इलाके में हैं और कुछ-न-कुछ अवरुद्ध कर सरकारों की नींद उड़ाने की वैसी स्थिति में नहीं होते हैं उनके प्रतिवाद और रोष की तीक्ष्णता भी उनकी उसी स्थिति से तय होती है। लिखने में अच्छा नहीं लग रहा है, पढ़ने में भी अच्छा नहीं लगेगा लेकिन इस सच्चाई को छुपाना भी तो आसान नहीं कि जहाँ जितने के माल की खपत होती है, वहाँ से उसी अनुपात में टीआरपी भी आती है, उसी अनुपात में राजस्व भी आता है। नागरिकों और नागरिक समाजों की हैसियत उनके उपभोक्ता होने के अनुपात से तय होती है। हमारी राष्ट्रीय और राज्य सरकारें, हमारी मीडिया, उन नागरिक समाजों की हैसियत के आधार पर ही उनके नागरिक जीवन में होनेवाली अ-प्रीतिकर घटनाओं की तीक्ष्णता को महसूस करती है, न सिर्फ महसूस करती है बल्कि इस तरह से महसूस

करने को उचित भी मानती है। बहुत भयावह है सोचना इस तरह कि देशव्यापी जन-राष्ट्र बनने की ओर बढ़ने के बदले हम लगातार राजधानी शहर केंद्रित उपभोक्ता राष्ट्र बनने के आत्मघाती-संकोचन की ओर तेजी से बढ़ रहे हैं। न सिर्फ बढ़ रहे हैं, बल्कि इस तरफ बढ़ने के औचित्य संस्थापन के बौद्धिक छल के भी शिकार हो रहे हैं।

दिल्ली में इस दुर्घटना की शिकार हुई युवती को शहीद बताने की बात भी कहीं-कहीं से सुनाई पड़ी। शिकार युवती के प्रति पूरी संवेदना रखते हुए भी शिकार और शहीद के अन्तर को भुलाया नहीं जाना चाहिए। सच्चाई क्या है मुझे नहीं मालूम, लेकिन बात उस युवती की जाति को लेकर भी चलाने की कोशिश की गयी। उसकी जाति के हवाले से इस घटना पर होनेवाली प्रतिक्रियाओं के चरित्र को भी समझने-समझाने की कोशिश हुई। पहला मंतव्य यह कि उस जाति की थी फिर भी नागरिक समाज जाति-विचार किये बिना इतने जोरदार तरीके से सक्रिय हुआ तो दूसरा मंतव्य यह कि मुझे पहले से ही सन्देह था कि वह उस जाति की है इसलिए नागरिक समाज इतना सक्रिय है। संकेत यह कि भारत जन-राष्ट्र के सपने के औचित्य के बाहर समुदायिक राष्ट्र में विघटित होने के आत्मघाती रास्ते पर बढ़ रहा है। शोर में एक स्वर यह भी उभरा कि यह जघन्य काम बिहारियों ने किया। हो सकता है जिसने यह जघन्य काम किया वह बिहारी हो, लेकिन यह कहना भयानक है कि यह काम बिहारियों ने किया। यह सच है कि अयोध्या में ढाँचे को ढहानेवाले हिन्दु थे, लेकिन यह कहना गलत है कि हिन्दुओं ने अयोध्या में ढाँचे को ढहाया। इस तरह की बात करनेवाले बढ़ रहे हैं। यह क्षेत्रीय बहिष्करण को उकसाकर अपना उल्लू सीधा करने का मामला है। इन्हें रोकनेवाला कोई नहीं है। ऐसी बातों की उपेक्षा की भारी कीमत भारत के जन-राष्ट्र बनने के सपने को चुकानी पड़ सकती है। कुछ प्रतिक्रिया ऐसी भी आई जिससे यह लगा कि नागरिक समाज के नाम पर न्याय करने का अधिकार भीड़ के पास है। उसे ही न्याय करने दिया जाये अर्थात नागरिक समाज को अपनी न्यायिक प्रक्रिया के अन्तर्गत न्याय होने के प्रति कम ही भरोसा है। मामला अदालत में है इस पर अधिक कुछ कहना अवांछनीय है फिर भी इस तथ्य पर सोचने से इनकार नहीं किया सकता है कि भारी दबाव के कारण अभियुक्त को लग रहा है कि दिल्ली में होनेवाली सुनवाई में उसके साथ न्याय होने की सम्भावना कम है। कैसी विकट स्थिति है कि वादी-प्रतिवादी में से किसी को भी अपनी न्यायिक प्रक्रिया पर पूरी और अ-टूट आस्था नहीं है। फिलहाल तो इतना ही कि इस घटना पर होनेवाली इस तरह की प्रतिक्रियाओं की मानसिकता को पढ़े जाने की जरूरत है। यह इसलिए कि शहर केन्द्रित उपभोक्ता राष्ट्र होने के आत्मघाती-संकोचन और समुदायिक राष्ट्र होने के आत्मघाती विघटन एक ही प्रक्रिया की भिन्न अभिव्यक्ति है, जिसे क्षेत्रीय बहिष्करण की मानसिकता से बल मिलता है जो अन्ततः जनतन्त्र को भीड़-तन्त्र में बदल दिये जाने की वैधता की तलाश में है। यह अति-कथन या अग्र-कथन नहीं है, हाँ, इस प्रक्रिया के परिणाम की गम्भीरता और भयावहता का आकलन एक कठिन काम है।

इस तरह की भयावह घटनाओं को रोकने के लिए संवैधानिक, प्रशासनिक, पारिवारिक, शैक्षणिक और सामाजिक स्तर पर सारे प्रयास किये जाने की तात्कालिक जरूरत को पूरा करने के लिए जोरदार कदम उठाया जाना जितना जरूरी है उतना ही जरूरी है इसके दीर्घकालिक समाधान के लिए इसके अन्तर्निहित कारकों को पहचाना और समझा जाये। विकास के चरित्र की असंगतियों को पहचान कर उसे दुरुस्त किया जाये। नव-नैतिकता का ऐसा परिसर तैयार किया जाये जिसमें बलात्कार जैसी घटनाओं की शिकार महिला की छवि सिर झुकाये, लुटी-पिटी, सर्वस्व खो चुकी, स्वत्वहीन और सत्वहीन बहिष्कृता की न होकर सामान्य मनुष्य जैसी होने की भरपूर गुंजाइश हो। नव-नैतिकता का सर्वथा अपना परिसर इस तरह से तैयार किया जाये जिसमें शरीर पर किये गये आघात से आत्मा के घायल होने की स्थिति से बचाव की पूरी गुंजाइश हो। एक नयी नैतिक दृष्टि का अपनाव इस समय की सबसे बड़ी जरूरत है। यह मुश्किल तो है, मगर असम्भव नहीं। इसके लिए चाहिए साहस। यकीनन, समाधान है साहस।

❑

सबलोग के महत्त्वपूर्ण अंक

आशा और निराशा के 61 वर्ष
लोकतंत्र और आतंकवाद
अर्थव्यवस्था की काली छाया
यूपीए शासन के पाँच वर्ष
महात्मा का हिन्द स्वराज
पानी पर तहरीर
नयी सरकार, नयी चुनौतियाँ
कठघरे में न्यायपालिका
भाषा, विचार और लोकतंत्र
आम आदमी और खाद्यान्न संकट
बिहार का सच और संकट
नक्सलवाद और राजसत्ता
युवा रचानाशीलता का नया दौर
उच्च शिक्षा का बाजारीकरण
उम्र से ऊँचे कद का राजनीतिज्ञ
आधी आबादी का संघर्ष
खेल, बाजार और संस्कृति
जाति का जहर
मीडिया का छल
भारत में मुसलमान
आदिवासियत पर आँच
कहानी विश्वविद्यालयों की
अरब में लोकतन्त्र की आहट
भ्रष्टाचार के इस भीषण दौर में

sablogmonthly@gmail.com

vkoj.k&dFkk

आन्दोलन भी करना है

अरविन्द मोहन

बलात्कार को सामान्य गम्भीर और संगीन अपराध से ज्यादा मनना ही उसे ज्यादा खौफनाक बनाता है। आखिर हत्या, हत्या का प्रयास और डाके जैसे अपराधों को लेकर इतना हंगामा नहीं होता ना ही उनसे बना अपराधबोध पीड़ित को जकड़ लेता है। असल में अपने यहाँ अपराध की जघन्यता के साथ-साथ औरत की योनि-शुचिता के सवाल को भी इसमें जोड़ दिया गया है।

कई बार से साल का अन्त अगर हंगामे और आन्दोलन के साथ हो रहा है तो यह नये साल का जश्न मनाने वालों के लिये भले ही परेशानी का कारण हो पर आम तौर पर जीवित और जीवन्त लोकतन्त्र के लिये इसे शुभ ही मानना चाहिये। इस बार बलात्कार को लेकर उभरा आन्दोलन तो कई मायनों में बहुत दूर तक असर करने वाली चीज है और उम्मीद करनी चाहिये कि यह औरत मर्द के बीच स्वस्थ रिश्तों और इन रिश्तों को दागदार करने वालों तथा उनके मददगारों के खिलाफ बहुत अच्छा कानूनी और शासकीय इंतजाम कराने में भी सफल होगा। बीच दिल्ली में बलात्कार करने वाले इस बार के अभियुक्त तो वैसे भी फांसी चढ़ेंगे क्योंकि अब तो उनका शिकार बनी लड़की मौत के मुँह में जा चुकी है। जिस स्तर पर इस बार आन्दोलन हुआ है और जारी है उससे साफ है कि यह घटना और यह आन्दोलन समाज की सोच को तय करने में निर्णायक मोड़ भी हो सकते हैं।

तीन साल के आन्दोलनों ने लोगों के अन्दर एक ऐसी चेतना जागृत की है जो उन्हें आगे भी चैन से सोने नहीं देगी। और अगर लोकतन्त्र में लोगों के अन्दर का लोकतन्त्र जाग गया हो तो लोकतांत्रिक संस्थाओं में आई गड़बड़ियों को दूर करने की उम्मीद करना गलत नहीं है। इसके बावजूद अगर आम आदमी पार्टी में सक्रिय प्रसिद्ध चुनाव विश्लेषक योगेन्द्र यादव जंतर मंतर पर जमा लड़के- लड़कियों की भीड़ और उनके व्यवहार से उत्साहित होकर लेख लिखते हैं और राजनैतिक पंडितों से अपने पुराने पैमाने छोड़कर इस आन्दोलन और समाज की इस नयी ऊर्जा पर विचार करने का आग्रह करते हैं तो उनके उत्साह को बचकाना और आन्दोलन में ढेर सारी कमियों का इशारा करने वालों मे योगेन्द्र के अपने साथी सुहाष पल्शीकर भी शामिल हो जाते हैं।

अब इस आन्दोलन को इसमें और 'आप' में शामिल योगेन्द्र के चश्मे से देखना जरूरी नहीं भी हो तो लगातार तीसरे साल सर्दियों और मुश्किल स्थितियों की परवाह न करते हुये आन्दोलन करना एक नयी चीज को तो बताता ही है जिसे आप अगर हिन्दी के लेखक नहीं हैं तो गम्भीरता से समझने का प्रयास करना होगा। हमारे हिन्दी लेखक क्यों समाज की नयी प्रवृत्तियों से मुँह फेरे रहते हैं इस पर कोई

लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं।
arvindmohan2000@yahoo.com
+919811826111

पीएचडी कर सकता है, पर बाकी सबको तो अपने बच्चे-बच्चियों द्वारा गलती के प्रतिरोध में उठ खड़े होने की प्रवृत्ति पर ताली बजानी ही पड़ेगी। खुद को गांव का, दलितों-अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधि बताकर जो लोग अन्ना और अरविन्द के आन्दोलनों को शहराती और दलित-पिछड़ा-अल्पसंख्यक विरोधी बताते थे इस बार उनकी हिम्मत भी बलात्कार विरोधी आन्दोलन पर कोई ऐसा फतवा जारी करने की नहीं हुई। ना ही इस बार संघ ने अपने भंडारे और गुप्त सहयोग से आन्दोलन खड़ा करने का दावा किया। ना ही इस बार किसी दल ने आन्दोलन के राजनैतिक एजेंडे की चर्चा की।

पर इस अच्छी स्थिति और इतने आश्वस्तकारी माहौल भर से बात बनने वाली नहीं है। अभी आन्दोलन में शामिल लोगों या उनके प्रति पूरी सहानुभूति रखकर भी घरों के अन्दर पड़े रहने वाली बिरादरी को भी खुद को और समाज को कई बातों का जवाब देना है, पहला जवाब तो आन्दोलन के इतने मतों को समेटने और उनसे समस्याओं को सुलझाने के सूत्र निकालने के तरीके से ही जुड़ा होगा। दूसरी चीज उतावलापन न भी कहें तो हर मर्ज का समयबद्ध समाधान का उनका तरीका पूछना पड़ेगा। फिर सोशल मीडिया नेटवर्क की जगह सिर्फ आपसी सम्वाद भर के लिये ही नहीं मुल्क और समाज को चलाने के लिये क्या व्यवस्था बनेगी या बनानी चाहिये यह भी जवाब कोई और नहीं देगा। जाहिर है जब आप नया नजरिया लेकर नये मुद्दे उठा रहे हैं तो आपको ही नये समाधान का रास्ता भी दिखाना होगा। जंतर-मंतर पर जमा भीड़ ने अपने आचरण और दम से नया अध्याय लिखा है पर उसे ही इस प्रसंग में आगे का रास्ता भी बताना होगा।

एक चीज साफ दिखी कि हमारे नेता अगर पिछली बार की तरह आन्दोलन की आलोचना करने से बच रहे थे तो वे इस बार इस जनाक्रोश से डरे भी थे और इसका फायदा उठाने का प्रयास भी करते रहे। नेता हर हाल में वोट के गणित को नहीं भूलते यह अच्छी बात है पर उनका अपना नजरिया भी तो साफ होना चाहिए। राष्ट्रपति के पुत्र, माकपा के अनुभवी नेता और पूर्व मंत्री से लेकर आसाराम बापू और संघ प्रमुख से लेकर खाप के नेताओं तक के उच्च विचार हमें आश्वस्त कम करते हैं और आतंकित ज्यादा। मध्य प्रदेश के मुख्य मंत्री शिवराज चौहान ने तो एक गौशाला के आयोजन में गाय और औरत की रक्षा हर हाल में करने का संकल्प दोहरा दिया। हाल के वर्षों में लड़कियों के विकास में तेजी आई है। समाज के मध्यवर्ग में पहले जो दकियानूसी थी उसके एक हिस्से में खुलापन आया है- भले ही लड़का-लड़की का बुनियादी भेद बना हुआ है। पर हमारा नेता वर्ग, जिसके हाथ में कानून बनाना है न सिर्फ इस बदलाव से अनभिज्ञ है बल्कि वह अभी भी समाज से पीछे चल रहा है।

और यह दिलचस्प है कि इतना बडा कांड अपने ढलान पर आने के साथ भले मुख्य बात से दूर नहीं हुआ पर वह कई दूसरे बडे सवालों से दूर नहीं रह सका। मीडिया ने इस मसले को कितना और कैसे उठाया यह छुपी हुई चीज नहीं है। पर यह भी सच है कि उस बहादुर लड़की, उसके परिवार, उसके दोस्त और निवास को लेकर मीडिया ने जबरदस्त खामोशी रखी। बल्कि कई अखबारों ने उसे नया नाम ही दे दिया। फिर जहाँ-तहाँ से पहचान के कुछ संकेत आने लगे-खासकर लड़की की मौत के बाद। फिर अचानक केन्द्रीय मंत्री शशि थरूर ने ट्वीट किया कि लड़की का नाम छुपाने की जगह अभी बनने वाले कानून का नाम उसके नाम पर रख दिया जाय। शुरू में तो महिला आयोग ही नहीं सरकार और कांग्रेस पार्टी के लोग भी बगलें झांकते नजर आये क्योंकि सुप्रीम कोर्ट का बहुत साफ निर्देश पहचान जाहिर होने के खिलाफ है। पर खबर आई कि उसके परिवार वालों को यह सुझाव अच्छा लगा तब से कुछ हवा बदली है। असल में बलात्कार में मुँह छुपाने की जरूरत तो बलात्कारी को है, पीड़ित को नहीं।

बलात्कार को सामान्य गम्भीर और संगीन अपराध से ज्यादा मनना ही उसे ज्यादा खौफनाक बनाता है। आखिर हत्या, हत्या का प्रयास और डाके जैसे अपराधों को लेकर इतना हंगामा नहीं होता ना ही उनसे बना अपराधबोध पीड़ित को जकड़ लेता है। असल में अपने यहाँ अपराध की जघन्यता के साथ-साथ औरत की योनि-शुचिता के सवाल को भी इसमें जोड़ दिया गया है। इसी से यह मसला मुँह छुपाने और जीवन भर अपमान महसूस करने वाला भी बन जाता है। और इसी चलते बलात्कार भी एक अपराध भर रहने की जगह औरत को अपमानित और दमित करने का एक उपकरण बन गया है। दुनिया में बलात्कार से पीड़ित महिलाओं द्वारा सामने आकर आन्दोलन करना और अपने अपराधी को सजा दिलवाने के अनेक उदाहरण हैं। ऐसे उदाहरण अपने यहाँ भी हैं और पाकिस्तान की मुख्तारन माई का उदाहरण तो दुनिया भर में चर्चित है जिसने अपने बलात्कार के मामले में न सिर्फ दोषियों को सजा दिलवाई बल्कि उनके जुर्माने से मिली बड़ी रकम से अपने कबायली इलाके में लड़कियों की शिक्षा का इंतजाम किया। हमारे यहाँ भी भंवरी देवी का मामला भी है ही।

पर इस मामले में एक यही मामला नहीं उभरा। शासन के शीर्ष तक के लोगों ने बहुत तत्परता दिखाई-आन्दोलन को 'सम्भालने' की। सोनिया गाँधी से लेकर मनमोहन सिंह तक। दिल्ली की मुख्यमंत्री शीला दीक्षित तो आन्दोलनकारियों की फटकार के बाद भी मैदान से नहीं हटीं। इसी क्रम में उन्होंने पुलिस की बागडोर दिल्ली सरकार के हाथ लेने का दांव भी खेला। सबने अपनी बेटियों का हवाला

दिया। पर प्रशासन की असंवेदनशीलता और बदमाशियाँ छुपी नहीं रहीं। निहत्थे आन्दोलनकारियों पर लाठी और आंसू-गैस छोड़ना अपराध से कम नहीं था। फिर आन्दोलन में आतंकी और हुड़दंगी घुसने का बहाना बनाया गया। जिस जनरल वी.के. सिन्ह के खिलाफ दुश्मन भी आँख उठाकर नहीं देख सकता था उन्हें डंडे से पीटा गया, उनका सिक्युरिटी कवर हटा लिया ग्या। और हद तो तब हो गयी जब एक पुलिसवाले की दिल का दौरा पड़ने से मृत्यु हो गयी तो इसका बाजाप्ता मुकदमा आन्दोलनकारियों पर दर्ज किया गया। उसे चोटिल और टूटी पसलियों वाला बता दिया गया। जब बीच दिल्ली में सैकड़ों कैमरे के सामने हमारे शासक ऐसा झूठ गढ़ सकते हैं तो बाहर वे क्या करते होंगे। सो जितनी जरूरत बलात्कार के मामले में कानूनी सुधार का है उतनी ही जरूरत शासन का रवैया सुधारने का है। और इस मामले में भी साफ कानूनी प्रावधान होने चाहिये कि मामला दर्ज करने में आनाकानी करने से लेकर सजा पर अमल करने में गड़बड़ करने वाले सरकारी लोगों के खिलाफ क्या कुछ किया जा सकता है।

एक और मामला बलात्कारियों की सजा के बाद बलात्कार पीड़ित को किसी किस्म की क्षतिपूर्ति देने का भी उठाया जाना चाहिये। और यह सजा या न्याय का हिस्सा होना चाहिये। इसका बोझ बलात्कारी पर हो या शासन पर यह सवाल भी विचार कर लेना चाहिये। पर इसे ममता बनर्जी की तरह बीस हजार रुपये में निपटाने (हालाँकि ऐसा करने वाली वह पहली नेता हैं) या माकपा नेता द्वारा जवाब में ममता से ही बदतमीजी करने वाले अन्दाज में नहीं दिया जाना चाहिये।

ऐसे नेता जमात के होते हुए ज्यादा अच्छे कानून और शासकीय इंतजाम की उम्मीद तभी रहेगी जब लोग आज जैसी मुस्तैदी में रहें। मामला ठंड़ा पड़ते ही नेताओं को लोगों की आंखों में धूल झोंकने में देर नहीं लगेगी। और यह भी मानकर चलिये कि सिर्फ एक कानून बनने से इस सदियों पुराने मर्ज का समाधान नहीं होगा। उसके लिये भी काफी सारे बदलावों के साथ-साथ सामाजिक मुस्तैदी जरूरी है। लब्बोलुबाब यह कि हमें आन्दोलन का मूड लम्बे समय तक नहीं बदलना है।

❑

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

कोश		
नामवर विचार कोश	*महेन्द्र राजा जैन*	695.00
आलोचना		
आलोचना की चुनौतियाँ	*सं. दीपक प्रकाश त्यागी राजेन्द्र प्रसाद चतुर्वेदी*	700.00
अज्ञेय और प्रकृति	*सं. रूपा गुप्ता*	425.00
युगबोध और हिन्दी साहित्य	*राजेन्द्र पंजियार*	250.00
स्वामी सहजानन्द और उनका किसान आन्दोलन	*अवधेश प्रधान*	350.00
आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता	*गंगा प्रसाद विमल*	450.00
यथार्थ की कथादृष्टि	*राम विनय शर्मा*	390.00
रंग विमर्श	*ज्योतिष जोशी*	350.00
मिथिला के सांस्कृतिक आयाम	*पंकज कुमार चौधरी*	300.00
उत्तर आधुनिक विमर्श और द्वन्द्ववाद	*राजेश्वर सक्सेना*	800.00
कथालोचन के नये प्रतिमान	*गौतम सान्याल*	250.00
चन्दन वन	*साधु कृष्णकाम हरिदास*	225.00
अछूत जातियाँ और बौद्ध धर्म	*डॉ. विलक्षण रविदास*	300.00
सर्वेश्वर की कविता का समाजशास्त्र	*संदीप कुमार*	300.00
संस्मरण		
ज्ञानरंजन के बहाने	*नीलाभ*	350.00
कवीन्द्र रवीन्द्र	*बहादुर मिश्र*	425.00
उपन्यास		
अश्वत्थामा	*शान्तनु*	200.00
अँधेरे का अहसास	*ईरानी बिस्वास*	150.00
पुनर्भवा	*महेन्द्र नाथ चौधरी*	300.00
हिचकी	*नीलाभ*	175.00
परीक्षा गुरु	*लाल श्रीनिवास दास*	320.00
संस्कृति विमर्श		
बंगाल के बाउल	*क्षितिमोहन सेन*	200.00
बिहार की कला परम्परा	*डॉ. रीता शर्मा*	250.00
कविता		
जीवन जीवन के बाद	*रंजना श्रीवास्तव*	250.00
हम बचे रहेंगे	*विमलेश त्रिपाठी*	250.00
जब मैं स्त्री हूँ	*रंजना जायसवाल*	200.00
राग और आग	*सुनीता जैन*	350.00
चट्टान पर लड़की	*श्रीनिवास श्रीकान्त*	290.00
क्या तुम रोशनी बनकर आओगी आयरा?	*विमल कुमार*	75.00

नयी किताब

1/11829, प्रथम तल, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

फोन : 22825606, 9811388579 ● nayeekitab@gmail.com

विश्व पुस्तक मेला, दिल्ली में मिलें

एच-12

बी-112

गुस्से का कारण, गुस्से की भीड़ और गुस्से का प्रबन्धन

अनिल चमड़िया

जो आन्दोलन हो रहे हैं उन्हें लेकर कई तरह के सवाल खड़े होते हैं। इनसे समाज में विविधता और आन्दोलन की पृष्ठभूमि के बीच के अन्तर दिखते हैं। दूसरी बात कि शहरी हिस्से में मध्यवर्ग का एक बड़ा हिस्सा एक बड़ी ताकत के रूप में उभरा है और वह किसी वैसे मुद्दे पर आन्दोलित हो सकता है जिसका सरोकार उससे हो सकता हैं।

लोकतन्त्र को किस तरह से देखें, यह एक बड़े प्रश्न के रूप में हमारे सामने उपस्थित हुआ हैं। लोकतन्त्र एक विचार है। लोकतन्त्र किसी एक रूप में ही मौजूद नहीं है। मसलन अभी बहुत बढ़चढ़ कर ये दावा किया जाता है कि भारत में लोकतन्त्र परिपक्व हो रहा है। सबूत के तौर पर ये बताया जाता है कि मतदान केन्द्रों के बाहर भीड़ बढ़ रही हैं। देश में दो स्थानों पर भीड़ बढ़ रही है। एक तो मतदान के आंकड़े हैं तो दूसरी तरफ धार्मिक स्थल व धार्मिक कार्यक्रम है। सरकारी आंकड़े बता सकते हैं कि कुछ प्रमुख धार्मिक स्थलों पर हाल के वर्षों में कितनी ज्यादा भीड़ बढ़ी है। इन्दिरा गाँधी की हत्या के बाद मतदान केन्द्रों पर लंबी कतार लगी थी। उसकी पृष्ठभूमि में क्या था? जब साम्प्रदायिक दंगे होते हैं तो मतदान केन्द्रों पर भीड़ एक साम्प्रदायिक उन्माद की पृष्ठभूमि में बढ़ती है। चुनाव के नतीजे भी यही बताते हैं। इसी तरह लोकतन्त्र की पहचान सड़कों पर भीड़ के आकार को देखकर नहीं की जा सकती है। विचारों के स्तर पर उस भीड़ में क्या है लोकतन्त्र की ताकत को पहचानने के लिए वह ज्यादा जरूरी है। दूसरी तरह से भी इस पहलू को समझने की कोशिश हम कर सकते हैं। मसलन आधुनिकता का सम्बन्ध विचारों से है न कि रूप रंग से हैं। देश में आमतौर पर आधुनिक कही जाने वाली जमात जिसमें वैज्ञानिक, डाक्टर, इंजीनियर और दूसरे डिग्रीधारी पेशेवर समूह शामिल है, बेहद सामन्ती, दकियानूसी, अंधविश्वासी, कट्टरवादी, जड़वादी, जातिवादी होते हैं। क्या डाक्टर के हाथ में आला आ जाने से वह आधुनिक हो गया? वह आधुनिक तकनीक में प्रशिक्षित हो सकता है लेकिन वह पुरानपंथी भी साथ-साथ हो सकता है। उम्मीद की जाती है कि वह तकनीक की तरह आधुनिक हो। इसी तरह से जुलूस प्रदर्शन की यह ठेठ परिभाषा नहीं हो सकती है कि वह अपने विचारों के स्तर पर लोकतन्त्रवादी है। हाल में जितने आन्दोलन हुए हैं उनकी पड़ताल लोकतन्त्र के दर्शन के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए। इसी पृष्ठभूमि में देश के विभिन्न हिस्सों में 16 दिसम्बर के बाद हुए जुलूस,

लेखक सामाजिक कार्यकर्ता और वरिष्ठ पत्रकार हैं।
namwale@gmail.com
+919868456745

विरोध प्रदर्शन पर यह मैं अपनी एक टिप्पणी प्रस्तुत कर रहा हूँ।

दिल्ली में 16 दिसम्बर 2012 की रात को सामूहिक बलात्कार की घटना से देश की आबादी का एक बड़ा हिस्सा आन्दोलित हुआ। समाचार-पत्रों के अनुसार अब स्थिति सामान्य हो रही है। अब तक बलात्कार की चुनिंदा घटनाओं पर जितने आन्दोलन देशव्यापी या विभिन्न स्तरों पर हुए हैं उनमें सबसे बड़े आन्दोलन के रूप में इस आक्रोश का विश्लेषण किया जा सकता हैं। लेकिन अब किसी भी आन्दोलन के साथ एक बड़ी मुश्किल यह खड़ी हो गयी है कि उस आन्दोलन के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आधार को तत्काल परखने की मांग की जाने लगी है। जो ईमेल का इस्तेमाल करते हैं उनमें से अधिकत्तर के इन बॉक्स में 16 दिसम्बर के बाद से देश के विभिन्न हिस्सों में बलात्कार की घटनाओं की जानकारियाँ भरी पड़ी हैं। समाचार-पत्रों के राज्यों के संस्करणों में हर राज्य में होने वाली बलात्कार की घटनाओं के ब्यौरे प्रकाशित किये गये हैं। वैसी घटनाओं को भी फिर से सतह पर लाने की कोशिश की गयी है जिनमें बलात्कार के शिकार को न्याय नहीं मिल पाने व परिवारों की दूर्दशा का उल्लेख है। सरकारी मशीनरी के निकम्मेपन को एक बार फिर से याद दिलाने की कोशिश की गयी है। समाज के कई उत्पीड़ित वर्गों ने ये सवाल भी खड़े किये हैं कि उनके बीच की महिलाओं के उत्पीड़नों पर शहरी समाज क्यों खामोश रहा हैं। सोनी सोरी से लक्ष्मी उरांव तक के नाम गिनाए गये हैं। ग्रामीण इलाको के गरीब गुरबों से लेकर दलितों ने अपने बीच किसी पीड़िता का नाम लेकर सवाल खड़ा किया है। उत्तर पूर्व के राज्यों से लेकर कश्मीर तक से ये सवाल खड़े हुए हैं। निर्भया या दामिनी के काल्पनिक नाम की जगह वास्तविक नामों के साथ।

पहली बात तो यह हुई कि जो आन्दोलन हो रहे हैं उन्हें लेकर कई तरह के सवाल खड़े होते हैं। इनसे समाज में विविधता और आन्दोलन की पृष्ठभूमि के बीच के अन्तर दिखते हैं। दूसरी बात कि शहरी हिस्से में मध्यवर्ग का एक बड़ा हिस्सा एक बड़ी ताकत के रूप में उभरा है और वह किसी वैसे मुद्दे पर आन्दोलित हो सकता है जिसका सरोकार उससे हो सकता हैं। वह कानून एवं व्यवस्था से जुड़ा सुरक्षा का सवाल हो सकता है। वह भ्रष्टाचार की सीधी मार हो सकती है। यह ताकत अन्ना हजारे के भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन में भी दिखी थी। आन्दोलनों के इतिहास का अध्ययन एक दिलचस्प मोड़ पर खड़ा हो गया है। संसदीय राजनीति में जय प्रकाश नारायण का आन्दोलन राजनीतिक नेतृत्व का आखिरी आन्दोलन था। अन्ना हजारे के नेतृत्व वाला आन्दोलन, आन्दोलन की उस स्थिति में पहुंच गया था जहाँ संसदीय पार्टियाँ खारिज की गयी लेकिन वह संसदीय पार्टियों से ही कानून बनाने की मांग पर अड़ी रही। आखिरकार वह आन्दोलन दो हिस्सों में बंटा। एक ने एक नयी संसदीय पार्टी बनाने की जरूरत महसूस की तो दूसरा गैर पार्टी आन्दोलन पर जोर देता रहा। इसके बाद 16 दिसम्बर से एक पखवाड़े का आन्दोलन दिल्ली में उस स्थिति का गवाह बना जब पूरे आन्दोलन का कोई नेतृत्व नहीं दिख रहा था। बिना किसी घोषित नेतृत्व के लोग बड़ी तादाद में बेहद गुस्से के साथ और खासतौर से युवाओं की भीड़ संसद और सत्ता के प्रमुख केन्द्रों के नाक के सामने जमा हुई और आन्दोलनों के इतिहास में एक नयी तरह की आक्रमकता को प्रदर्शित किया।

क्या नेतृत्वविहीन आन्दोलनों का दौर शुरू हो रहा हैं? क्या सत्ता को ऐसे आन्दोलनों से घबराते हुए दिखना और निपटना आ गया है। योगा के प्रचारक स्वामी रामदेव के आन्दोलन को भी यहाँ एक क्षण के लिए याद कर सकते हैं जब उनकी आगवानी के लिए हवाई अड्डे पर भारत सरकार के चार-चार मंत्री मौजूद थे। सत्ता को ही नहीं तमाम पार्टियों को ऐसे आन्दोलनों से निपटना आता है। यू कहें कि गुस्से को अपने भीतर समाहित करने की भाषा उन्हें आती है। महिला आयोग का गुस्से के साथ एकरूपता देखें कि बलात्कारियों के अंग भंग की बात की गयी। आयोग की अध्यक्ष के अब तक जितने विवास्पद बयान आये हैं उन पर गौर करें तो शहरी मध्यवर्ग की प्रभावशाली महिला वर्ग के साथ हर लिहाज से वे खुद को एकरूप करने में सक्षम दिखती है। उनका सेक्सी वाला बयान भी याद किया जा सकता है। भाजपा ने मांग की कि संसद का विशेष सत्र बुलाएँ। गुस्साई भीड़ का बड़ा हिस्सा तो मानो पहले से ही भाजपा नेता लाल कृष्ण आडवाणी की बलात्कारियों को फांसी की मांग दोहरा रहा था। समाजवादी पार्टी के युवा मुख्यमंत्री उस पीड़िता के लिए नियुक्ति पत्र तैयार करवाने लगे। कांग्रेस ने गुस्साए लोगों के साथ हर स्तर पर खुद को एकरूप करने की कोशिश की। प्रधानमंत्री और गृह मंत्री ने तीन बेटियों के पिता के रूप में गुस्साए लोगों से बातचीत की। प्रधानमंत्री और गृह मंत्री महिला होती तो क्या कहती? जुडो कराटे की राष्ट्रव्यापी कार्यशाला लगानी चाहिए? इस तरह अपनी भीड़ के गुस्से को हरेक पार्टी ने सम्बोधित करने में खुद को कामयाब पाया है। किसी की दिशा में कोई बुनियादी अन्तर नहीं हैं। इसीलिए किसी भी पार्टी और उसकी सत्ता को इस गुस्साई भीड़ से जरा भी खतरा नहीं दिखता हैं। क्या आन्दोलन ऐसे हो सकते है जहाँ किसी को कोई खतरा या चुनौती नहीं दिखती हो? इससे जुड़ी बात कि क्या ये भरोसे से कहा जा सकता है कि इस तरह के आन्दोलन कब शुरू हो सकते हैं और कब खत्म हो जाएँगे? पिछले कुछेक आन्दोलनों को भी यहाँ याद कर सकते हैं। क्या ये आन्दोलन सही मायने में पहला ऐसा आन्दोलन है जिसका नेतृत्व मीडिया कर रहा है और मीडिया ने देश में वह ताकत हासिल कर ली है जब वह किसी आन्दोलन को शुरू कर सकता है और उसे किसी मुकाम पर खत्म कर सकता है?

आन्दोलन की माँग पर गौर करें। क्या बलात्कार की घटनाओं को एक और कानून बनाने से रोका जा सकता है? कड़े कानून की कसौटी क्या होती है? क्या आरोपी की मौत या अंग भंग ही कड़े कानून का नाम है। 16 दिसम्बर के बाद सबसे प्रमुख मांग प्रचार में यह उभर कर सामने आई कि आरोपियों को फांसी की सजा दी जाए। धनंजय चटर्जी को फांसी ही दी गयी थी और उससे पहले रंगा बिल्ला भी मौत के घाट उतारे गये

हैं, लेकिन 16 दिसम्बर की काली रात फिर भी डराने आ गयी। पूरे आन्दोलन के चरित्र को समझने के लिए यह जरूरी है कि पिछले कुछ आन्दोलनों में हर इस तरह की समस्या का समाधान फांसी की सजा या सजाए मौत में देखी जा रही है। आखिर यह गुस्सा बलात्कार या दूसरे बड़े अपराधों को खत्म करने के लिए है या फिर यह किसी और काम में आ रहा है? गुस्से को अभिव्यक्त होते क्या तभी दिख सकता है जब व्यवस्थागत तौर पर कानूनी मशीनरी को फैसले में मानचाहा करने की छूट मिलती हो। क्या आन्दोलन लोकतन्त्र की एक प्रक्रिया है और क्या वह प्रक्रिया व्यवस्था को ज्यादा से ज्यादा निरंकुश बनाने में इस्तेमाल की जा रही है? क्या यह सम्भव है कि भीड़ नहीं जानती हो कि वह क्या मांग रही है और किससे मांग रही है? शायद यह सम्भव है। एक दूसरा विश्लेषण ये भी करना चाहिए कि जिस बलात्कार के विरोध को महिलाओं के उत्पीड़न और उनपर हमले के विरोध में ही देखा जा रहा है वहाँ महिलाओं के हाथों में किस तरह के नारों की तख्तियाँ लगी हुई हैं। लड़कियाँ व महिलाएँ उन कारणों को अपने नारों में प्रदर्शित करने से चूकती दिखती है जो बलात्कार और उनके उत्पीड़न के औजार तैयार करता हैं। पूंजीवाद और पुरूषवाद एक दूसरे की सहायक शक्तियाँ हैं। पूंजीवाद पुरुषवाद के उस रूप का आधुनिकीकरण कर देता है जो रूप सामन्तवाद में होता है। पूरी पूंजीवादी संरचना को बचाती तख्तियाँ लगी थी। यानी एक तरफ जड़वादी राजनैतिक विचार हैं जो लड़कियों के पहनावे और बाजार में चलने- फिरने के तौर-तरीकों को खत्म करने की मांग करते हैं और उन्हें पुरूषों को उकसाने वाली प्रवृतियों के रूप में सम्बोधित करते हैं। लेकिन दूसरी तरफ नारों की तख्तियाँ उन्हें ही सम्बोधित कर रही थी। नहीं सहेंगे नारी का अपमान जैसे नारे। सामंतवादी विचारों की लड़ाई पूंजीवादी प्रवृतियों को विकसित करने की एक लड़ाई इस आन्दोलन में दिखाई दे रही थी। क्या बलात्कार और छेड़खानी का सम्बन्ध शराब, अश्लील फिल्मों, टीवी के कार्यक्रमों से लेकर पूरी एक सामाजिक संरचना से हैं। लेकिन तमाम स्थितियों पर आन्दोलन में कोई सवाल खड़े नहीं हो रहे हैं। बस फांसी का कानून बनाने की मांग को प्रचारित किया जाता रहा है। इस तरह एक ऐसे आन्दोलन का विश्लेषण इस रूप में सामने आता है कि लोकतन्त्र में एक निरकुंशता की पक्षधर भीड़ का गुस्सा तैयार हो गया है? उसके पास सूचनाओं के लिए अपने संसाधन तो हो गये हैं लेकिन संवाद का नजरिया आकार नहीं ले पा रहा है। वह सामाजिक तौर पर सुधारवादी और राजनीतिक तौर पर परिवर्तनवादी से दूर खड़ा दिखाई देता है? पिछले तमाम आन्दोलनों से भिन्न इस शहरी आन्दोलन का विश्लेषण किया जाना चाहिए। इस दौर में महिलाओं के खिलाफ उत्पीड़न न केवल बढ़ा है बल्कि वह कई नये रूपों में तैयार हुआ है। शराबबंदी की मांगे गांव और पिछड़े इलाकों में तेजी के साथ बढ़ी हैं। पूंजीवाद के जो सहायक उत्पाद हैं उनपर दिल्ली में कोई सवाल खड़ा नहीं हुआ। आन्दोलन केवल कानून के बनने के इर्द-गिर्द बहस में सिमटा दिखा। आखिर वे क्या कारण है जिसमें शहरों और गांवों से छोटी उम्र की लड़कियाँ बड़े पैमाने पर गायब की जा रही हैं। बलात्कार की घटनाएँ आम हो गयी है। पूरी दुनिया में गरीब मुल्कों की और अमीर मुल्कों में गरीब महिलाओं के खिलाफ आमतौर पर आक्रमण बढ़ा है। दिल्ली में 16 दिसम्बर का बलात्कार कांड पूरे देश में महिलाओं के उत्पीड़न के खिलाफ एक राजनीतिक माहौल तैयार करने में कामयाब होता है तो वही सबसे बड़ा और सख्त कानून होगा। लोकतन्त्र में सामाजिक सुरक्षा चक्र और सामाजिक चेतना ही वास्तविक कानून होता है। व्यवस्थागत कानून तो महज एक सहायक के तौर पर हो सकता है। यदि सचमुच जिस देश में इतनी बड़ी आबादी महिला उत्पीड़न की विरोधी हो तो उस समाज में महिला उत्पीड़न अतीत की बात हो सकती है। या फिर यह स्थिति है कि हम इसके बहाने उत्पीड़न का एक नया हथियार तैयार कर रहे हैं? कानून किसके हाथों में सौंपा जा रहा है लोकतन्त्र में यह किसी भी आन्दोलन के लिए सबसे बड़ी चिन्ता का विषय होना चाहिए।

❑

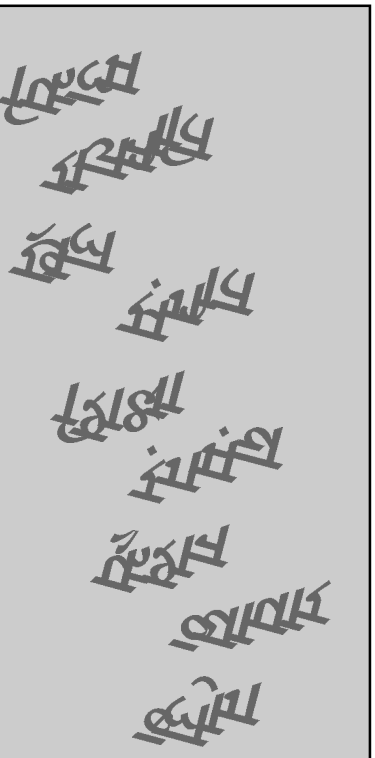

दुनिया रोज बदल रही है,
और इस बदलती दुनिया के
भागीदार युवा भी हैं।
बदलती दुनिया को युवा नजर
से देखना एक दिलचस्प
अनुभव है।
अपने अनुभव बांटिए...
फिल्म, राजनीति, खेल, संगीत,
शिक्षा... विषय कुछ भी हो
सकता है। कभी-कभी तो बिना
विषय की जो बात होती है वह
भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती।

bl LrEHk
d fy;
;okvk
d vky[k
vkef=kr gA

sablogmonthly@gmail.com

बुनियादी सुधार जरूरी

गंगा सहाय मीणा

भारत की पुलिस व्यवस्था बुनियादी रूप से औपनिवेशिक भारत में यहाँ के लोगों पर राज करने, उनके दिलों में पुलिस का भय पैदा करने और आततायी शासन को उन पर जबरन थोपने के लिए 1861 में बनाये गये पुलिस अधिनियम के अनुसार देश के नागरिकों पर शासन कर रही है।

बीते वर्ष की समाप्ति दिल्ली में गैंगरेप पीड़िता की मृत्यु की हृदय विदारक घटना के साथ तथा नये वर्ष की शुरूआत छत्तीसगढ़ के लातेहार में नक्सलियों द्वारा सीआरपीएफ के दर्जनभर जवानों को मारने और एक जवान के शव में पेट चीरकर बम भरने तथा सीमा पर पाकिस्तानी सैनिकों द्वारा भारतीय सैनिक का सिर काटकर ले जाने की घटनाओं के साथ हुई। नागरिकों के दिलों में भय पैदा करने वाली ये तीनों घटनाएँ वर्तमान दौर, व्यावस्था और समाज पर कई सवाल उठाती हैं और हमें सोचने को मजबूर करती हैं।

दिल्ली गैंगरेप की घटना के बाद लोगों का कारवाँ अपने सवालों का जवाब खोजने सडकों पर निकला और उसने राजधानी और सरकार के कई अहम केन्द्रों पर तमाम खतरे उठाते हुए अपना प्रतिरोध दर्ज किया। इस लिहाज से बीते वर्ष का आखिरी पखवाड़ा भारत में स्त्री के शोषण और उससे मुक्ति की मुहिम की दिशा में अहम रहा। आरोपियों को कड़ी सजा दिलाने तथा यौन अपराध सम्बन्धी कानूनों को कड़ा किये जाने की माँग को लेकर चले प्रदर्शनों में पुलिस, प्रशासन और राजसत्ता पर कुछ बुनियादी और बेहद जरूरी व जटिल सवाल उठाये गये। सवाल प्रदर्शनकारियों पर भी उठे। दिल्ली के एक पॉश इलाके में चलती बस में हुई सामूहिक बलात्कार की घटना के बाद से दिल्ली पुलिस की जमकर भर्त्सना हुई और प्रदर्शनकारियों पर पुलिस द्वारा आँसू गैस के प्रयोग और लाठीचार्ज ने पुलिस की आलोचना पर वैधता की मुहर लगा दी। इस सप्ताह भारत के उच्चतम न्यायालय और दिल्ली उच्च न्यायालय ने भी पुलिस की भूमिका पर सवाल उठाये हैं और सुरक्षा व्यवस्था को लेकर पुलिस को कटघरे में खड़ा किया है। दिल्ली में हुए विरोध प्रदर्शनों के दौरान प्रधानमन्त्री, गृहमन्त्री, दिल्ली की मुख्य मन्त्री आदि ने भी अपने बयानों में लोगों के गुस्से को जायज बताया। नेताओं ने खुद को बेटियों का बाप बताते हुए उत्पीड़ित लड़की के दुख को समझने का स्वांग रचा। इस बीच तमाम पार्टियों के नेताओं व सेलिब्रिटियों के स्त्री-विरोधी बयान आते रहे जिनमें उन्होंने स्वयं लडकियों को यौन अपराधों के लिए जिम्मेदार तक ठहराया और तरह-तरह की नसीहतें दीं, जिन्हें मानने से पूरे देश की स्त्रियों

लेखक जेएनयू में सहायक प्रोफेसर हैं।
gsmeena.jnu@gmail.com
+919868489548

ने इंकार कर दिया और उन बयानों पर अपना कड़ा प्रतिरोध दर्ज किया।

दूसरी तरफ सीमा पर भारतीय जवान के साथ की गयी नृशंसता और सत्ता के खिलाफ अपनी लड़ाई में नक्सकलियों द्वारा पहली बार किये गये 'शव बम' के प्रयोग के बाद पूरा देश क्रोधाग्नि में जल रहा है। लातेहर की घटना निंदनीय है। लेकिन इस अवसर पर हमें सीमा के बाहर और अन्दर के सवालों को अलग कर समझना होगा। स्वयं सीमा पर घटी घटना पर पाकिस्तानी मीडिया ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय और भारतीय मीडिया भी सवाल उठा रहा है। इसके बावजूद नक्सलवाद का मुद्दा नियंत्रण रेखा पर चल रही गतिविधियों से भिन्न है। नक्सलवाद व्यवस्था की खामियों से उपजा एक आंतरिक मुद्दा है। यह हमारी सत्तान व्यवस्था की नैतिक हार है कि स्थानीय आदिवासी सत्ता और व्यवस्था के साथ खड़े न होकर नक्सलवादियों के साथ खड़े हैं और नक्सलवाद का लगातार प्रसार हो रहा है। दरअसल नक्सलवाद को खत्म करने के लिए सरकार की ओर से प्रतिक्रियावादी बयानों और कार्यवाहियों के अलावा कुछ नहीं किया जाता। इस बहुत सीधी और आसान बात को न जाने क्यों हमारी सरकारें नहीं समझना चाहतीं कि अगर उस इलाके का विकास होगा तो नक्सालवाद के खात्मे के लिए किसी 'ऑपरेशन' की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। अगर पुलिस, सीआरपीएफ, प्रशासन और हमारे नेता आदिवासी इलाकों में ईमानदारी से काम करेंगे और आदिवासियों के साथ शोषण और अन्याय करना बन्द करेंगे तो व्य व्यवस्था के प्रति उन इलाकों के लोगों का विश्वास पैदा होगा। इसलिए समस्या की जड़ में जाये बिना उसका हल निकालने की बात करना ही बेमानी है। आदिवासी इलाकों में पुलिस का दुर्व्यवहार किसी से छिपा नहीं है। सरकारें जमीन छीन रही हैं और स्थानीय पुलिस जीवन। आजादी के 65 साल बाद भी पुलिस में औपनिवेशिक और सामन्ती रवैया कूट-कूटकर भरा हुआ है। न उसमें कार्यदक्षता है और न ही जवाबदेही। यह गम्भीर चिन्ता का विषय है।

दिल्ली की घटना में भी कुछ चीजें स्पष्ट हैं, जिनके बारे में हममें से हर एक को सोचना होगा। एक अहम सवाल उस मानसिकता का जरूर है जिसकी शिकार वह लड़की हुई लेकिन सबसे बड़ा सवाल पुलिस के रवैये और जिम्मेदारी का है जिस पर बहुत कम और दबी जुबान से बातें हो रही हैं। घटना के एकमात्र चश्मदीद और पीड़िता के दोस्त द्वारा एक निजी चैनल को दिये गये साक्षात्कार ने पुलिस के व्यवहार, कार्यपद्धति तथा जवाबदेही पर कई सवाल उठाए हैं। ये सवाल कोई नये सवाल नहीं है। इनसे हर वह नागरिक परिचित है जिसका जीवन में कभी पुलिस व थाने से पाला पड़ा है। आम लोगों के साथ पुलिस का बर्ताव बेहद खराब है। ऐसा लगता है मानो थाने गरीबों को न्याय देने के लिए नहीं, उन्हें डराने-धमकाने और उनसे पैसे एंठने के लिए बनाये गये हैं। वही पुलिस नेताओं और प्रशासकों की उंगलियों के इशारे पर नाचती है। उसकी जवाबदेही जनता के प्रति नहीं, सत्ता प्रतिष्ठान में बैठे हुए लोगों के प्रति दिखती है। इसकी ऐतिहासिक वजहें हैं।

भारत की पुलिस व्यवस्था बुनियादी रूप से औपनिवेशिक भारत में यहाँ के लोगों पर राज करने, उनके दिलों में पुलिस का भय पैदा करने और आततायी शासन को उन पर जबरन थोपने के लिए 1861 में बनाये गये पुलिस अधिनियम के अनुसार देश के नागरिकों पर शासन कर रही है। पुलिस राज्य का विषय है, लेकिन अधिकांश राज्यि सरकारों ने या तो 1861 के अधिनियम को हूबहू लागू कर दिया या थोड़े फेरबदल के साथ। हम भूल गये कि 1861 का पुलिस अधिनियम 1857 के विद्रोह के बाद हिंदुस्तानियों में पुलिस का खौफ पैदा करने की मंशा से बनाया गया, जिससे ऐसे विद्रोह की पुनरावृत्ति न हो सके।

ऐसा नहीं है कि आजादी के बाद नागरिकों और सरकारों का ध्याान इस गड़बड़ी की ओर नहीं गया। पिछले तीन दशकों से अधिक समय से पुलिस सुधार चर्चा का विषय बना हुआ है लेकिन इस सन्दर्भ में बातें अधिक हुई हैं जबकि काम कुछ खास नहीं हुआ। 1977 में बनाए गये राष्ट्रीय पुलिस आयोग ने 1979 से सुचारू ढंग से काम किया और दो वर्ष में पुलिस सुधार सम्बन्धी आठ रिपोर्टें तैयार की। डेढ़ दशक तक इन रिपोर्टों और इनके साथ तैयार किये मॉडल पुलिस एक्ट पर धूल जमती रही 1996 में दो पूर्व वरिष्ठ पुलिस अधिकारियों द्वारा राष्ट्रीय पुलिस आयोग की सिफारिशों को लागू कराने के बावत उच्चतम न्याायालय में एक जनहित याचिका दायर की। उच्चतम न्यायलय ने राष्ट्रीय पुलिस आयोग की सिफारिशों को लागू करने की सम्भावनाओं का पता लगाने के लिए सरकार को एक समिति के गठन का निर्देश दिया। सरकार ने पूर्व पुलिस अधिकारी जे.एफ. रिबेरो के नेतृत्व में एक समिति बनायी जिसने 1998-99 में दो रिपोर्टें तैयार कीं। सरकार ने सन 2000 में इसी बावत पूर्व गृहसचिव के. पद्मनाभैया के नेतृत्व में एक और समिति बनायी। इन तमाम रिपोर्टों के आधार पर सरकार ने 2005 में वरिष्ठ अधिवक्ता सोली सोराबजी के नेतृत्व में पुलिस अधिनियम का मसौदा तैयार करने के लिए एक समिति बनायी जिसने 2006 के अन्त तक यह काम पूरा कर लिया। समिति का लक्ष्य एक ऐसे पुलिस अधिनियम का

निर्माण करना था जिसके माध्यम से नयी परिस्थितियों में पुलिस की भूमिका और जिम्मेदारी तय की जा सके। इसमें पुलिस के रवैये में बदलाव को अहम बिन्दु बनाया गया तथा महिलाओं, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के बुनियादी अधिकारों की रक्षा को भी शामिल किया गया।

पुलिस सुधार पर चले इस पूरे बौद्धिक विमर्श का सार हम उच्चतम न्यायालय द्वारा पुलिस सुधार हेतु की गयी सिफारिशों (प्रकाश सिंह बनाम भारत सरकार मामले) में देख सकते हैं, जिनमें मुख्य हैं–1. राज्य सुरक्षा आयोग का गठन, 2. पुलिस के मुखिया के चयन तथा न्यूनतम कार्यावधि के बारे में स्पष्टता, 3. अन्य पुलिस अधिकारियों की न्यूनतम कार्यावधि का निर्धारण, 4. जाँच प्रक्रिया और कानून-व्ययवस्था को एक-दूसरे से स्वतन्त्र करना, 5. पुलिस संस्थापना बोर्ड की स्थापना, 6. स्वतन्त्र पुलिस शिकायत प्राधिकरण की स्थापना, 7. राष्ट्रीय सुरक्षा आयोग की स्थाकपना, 8. निगरानी समिति का गठन तथा 9. पुलिस कानूनों का आवधिक नवीनीकरण।

पुलिस सुधार की लिये की गयी इस पूरी कवायद का मुख्य उद्देश्य पुलिस को राजनीति से स्वतन्त्र कर जनता के प्रति उसकी जवाबदेही तय करना है। वर्तमान में स्वयं पुलिस का चरित्र सन्देह के घेरे में रहता है और उससे अपराधी नहीं, आम शरीफ नागरिक डरते हैं। पूरा पुलिस तन्त्र इतना सड़ चुका है कि अगर कोई पुलिस कर्मचारी या अधिकारी ईमानदारी से अपना काम करना चाहे भी तो नहीं कर सकता। ऐसे में पुलिस को नेताओं और वरिष्ठ अफसरों की तुलना में जनता के प्रति जवाबदेह बनाना बहुत जरूरी है। 2006 में तैयार किये गये पुलिस अधिनियम के मसौदे में पुलिस के कामकाज की जवाबदेही तय करने के लिए पुलिस बोर्ड को निर्देश दिये गये हैं, जिनमें पीडित की सन्तुष्टि व मानवाधिकारों की रक्षा को भी आधार बनाया गया है। अधिनियम के मसौदे में पुलिस के दुर्व्यवहार पर नजर रखने के लिए राज्य सरकार को 'पुलिस जवाबदेही आयोग' गठित करने का निर्देश दिया गया है। आयोग को पुलिस के गम्भीर दुर्व्यवहार (पुलिस हिरासत में मौत, गम्भीर चोट, बलात्कार या बलात्कार की कोशिश और अवैध गिरफ्तारी) पर पुलिस को सजा दिलवाने का अधिकार दिया गया। दुनिया के कई देशों के उदाहरण इस बात के गवाह है कि कड़े कानूनों की तुलना में पुलिस सुधारों ने कानून-व्यवस्था सुधारने में बडी भूमिका निभायी है।

सामूहिक बलात्कार की शिकार लड़की की मौत के बाद भी पूरे देश में जारी शान्तिपूर्ण विरोध प्रदेर्शनों में उम्मीद की किरण दिखाई देती है। भय के माहौल में प्रदर्शन का साहस निश्चय ही सच की ताकत से मिल सकता है। यह वक्त है सच के साथ खड़े होने का और आत्म-मंथन का। हमें सोचना चाहिए कि सिर्फ कड़े कानून या पुलिस अकेले अपराध रोकने में सक्षम नहीं होंगे। कड़े कानून बनाने और उन्हें लागू करवाने के लिए दृढ़ इच्छाशक्ति की जरूरत है। हमारे माननीय नेताओं के लिए कड़े कानून बनाना आसान है, लेकिन इससे मसला सुलझेगा नहीं क्योंकि जब तक पुलिस सुधारों के माध्यम से पुलिस की कार्यकुशलता सुनिश्चित नहीं की जाती, राजनीति से पुलिस को पृथक नहीं किया जाता और जनता के प्रति जवाबदेह नहीं बनाया जाता, कानूनों के दुरूपयोग का खतरा मंडराता रहेगा। पुलिस सुधारों के साथ पुलिस की ट्रेनिंग में जेंडर संवेदनशीलता को शामिल करना कारगर हो सकता है, इसलिए इसके प्रावधान करने में देरी नहीं करनी चाहिए। सवाल उन तमाम दलित और आदिवासी महिलाओं तथा उनके साथ हो रहे यौन अपराधों का भी है, जो न मीडिया में आ पाते और न ही उन पर इस तरह के सामूहिक आन्दोलन खड़े होते। सवाल जम्मू व कश्मीर और उत्तहर-पूर्व में सीआरपीएफ द्वारा की गयी बदसुलूकियों का भी है। सवाल सोनी सोरी, दयामनी बारला, इरोम शर्मिला और तमाम प्रतिरोधी स्वारों का भी है, जिन्हें न मीडिया जगह देता, न हमारी सिविल सोसाइटी। खैर, यह वक्त साझी लड़ाई का है। अगर वंचित समुदायों के लोग स्त्रियों के खिलाफ हो रहे अपराधों के विरुद्ध उठ खडे होंगे तो उनके सवालों पर भी समाज के अन्य तबके उनके साथ आएँगे, इसकी उम्मीद की जा सकती है। वर्तमान जनाक्रोश किसी एक घटना के बजाय व्यववस्था और मानसिकता के खिलाफ जनता के संचित क्रोध की उपज है, इसे सही दिशा देने की दरकार है।

❑

संवेद के कुछ महत्त्वपूर्ण अंक

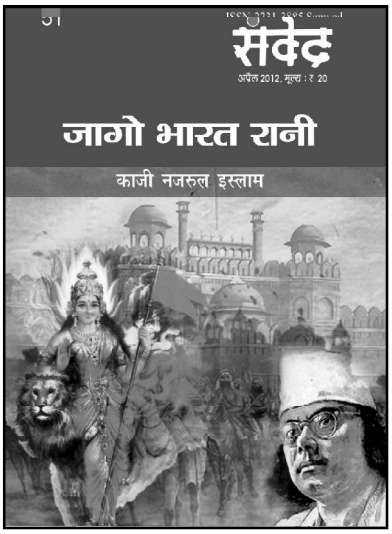

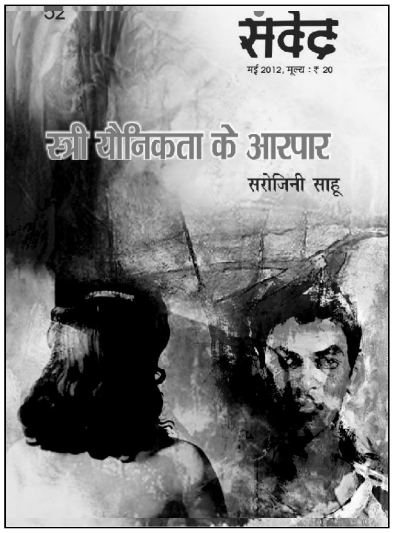

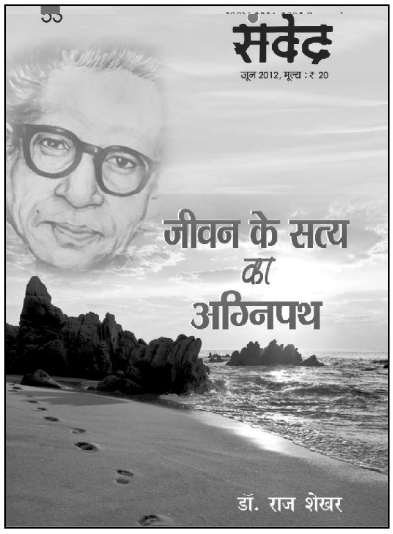

बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089
samvedmonthly@gmail.com

असली दोषी कैसे सुधरे?

वीरेन्द्र जैन

जो राजनीति पूरे तन्त्र पर नियंत्रण करती है उसका एक बड़ा हिस्सा सिद्धान्तहीन होकर उसे सत्ता, सम्पत्ति पाने का साधन बना बैठा है। सत्ता से जुड़े दबंगों के मन में न्याय के भय से मुक्त होने के दुर्गुण बहुतायत में देखे जा रहे हैं।

किसी एक मामले में दी गयी सजा उस पीड़ित को न्याय देने तक ही सीमित नहीं रहती अपितु वह सम्भावित अपराधों को रोकने का भी काम करती है। दिल्ली की बस में गैंग रेप की शिकार युवती की मृत्यु के बाद भड़की जनभावनाओं को देखते न्याय व्यवस्था द्वारा उस पर हमला करने वालों को जल्दी से जल्दी कानून सम्मत कठोरतम सजा देने का दायित्व बनता है। भले ही फाँसी की सजा से मृतक की वापिसी नहीं होती किन्तु कठोर सजा से समाज में वह माहौल बनता है जिसके डर से दूसरा कोई वैसा अपराध करने से पहले कुछ क्षण सोचने को विवश हो सकता है। पर जब न्याय व्यवस्था इस या उस कारण से लम्बे समय तक आरोपियों को सजा नहीं दे पाती तो वह अपराधों को बढ़ाने के लिए भी जिम्मेदार होती है। उल्लेखनीय है कि जब सराकारी और गैर सरकारी लोग इस मामले में फास्ट ट्रैक कोर्ट के गठन की माँग कर रहे थे तब वे देर से न्याय मिलने के दोष पर भी परोक्ष में टिप्पणी कर रहे थे जिसमें न्याय को अन्याय के समकक्ष रख दिया जाता है। किसी लोकतांत्रिक समाज में बढ़ती हिंसा उस समाज में न्याय व्यवस्था के कमजोर होने का प्रतीक भी होती है।

संवैधानिक न्याय के समानान्तर सामाजिक न्याय भी चलता है और कई बार वह संवैधानिक न्याय से भिन्न अधिक कठोर या कमजोर होता है। हमारे समाज में स्त्रियों के खिलाफ होने वाले अपराधों में संवैधानिक न्याय और सामाजिक न्याय में बहुत भेद हैं। जहाँ किसी भी बालिग स्त्री या पुरुष को बिना जाति, धर्म, गोत्र, या भाषा पर विचार किये, शादी की तय उम्र पर, विवाह करने का अधिकार है वहीं समाज में विधर्मी से, दूसरी जाति वाले से ही नहीं अपितु अपने गोत्र में विवाह करने पर भी हजारों सम्भावनाशील नौजवानों, नवयुवतियों की हत्याएँ प्रतिदिन हो रही हैं और इन हत्यारों को सजा देने के लिए कोई फास्ट ट्रैक कोर्ट नहीं बनाये जा रहे। मैं पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी भाषी क्षेत्र में हुई इन हत्याओं का रिकार्ड रख रहा हूँ और पाता हूँ कि कोई सप्ताह ऐसा नहीं जाता जब किसी न किसी आनर किलिंग का समाचार सामने न आये। इन प्रकरणों में भी घर की बेटी बहिन को अधिक सरलता से मार देने की घटनाएँ ज्यादा घट रही हैं। बिडम्बनापूर्ण यह

लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं।
j_virendra@yahoo.com
+919425674629

है कि वोटों के चक्कर में इन हत्यारों की खिलाफत करने का काम राजनेता या राजनीतिक दल नहीं कर रहे हैं क्योंकि इन हत्यारों को अपने जाति समाज का समर्थन प्राप्त है। एक न्यायाधीश मित्र ने बताया कि एक गाँव की एक युवती के साथ गाँव के एक दबंग ने ऐसी छेड़छाड़ कर दी जिसमें दंड स्वरूप जुर्माना कुल पचास रुपये है। सजा सुनने के बाद अभियुक्त ने अदालत में ही हँसते हुए कहा कि उसके पास तो सौ का नोट है इसलिए उस कृत्य को दुहराने से छुट्टे की समस्या नहीं होगी।

नारी के खिलाफ यौन अपराधों के पीछे बहुत बड़ा दोष हमारी सामाजिक सोच का है जिसके अनुसार अपराध से पीड़ित महिला के साथ सहानुभूति की जगह लोग उसी को दोषी ही नहीं अपितु चरित्रहीन भी समझते हैं और वह सामाजिक उपहास का पात्र भी बनती है। यही कारण होता है कि पीड़ित महिलाएँ इन अपराधों को छुपाने का प्रयास करती हैं और अपराधी समाज में सम्मानित घूमते हैं। घर परिवार के कमजोर लोग भी अपना गुस्सा घर की महिला पर ही उतारते हैं क्योंकि समाज में उक्त अपराध के लिए उस परिवार को भी जिम्मेवार माना जाता है जो अपने घर की महिलाओं को स्वतन्त्रता पूर्वक विचरण करने की अनुमति देते हैं। सामाजिक मान्यता यह है कि महिलाओं को पुरुष या घर के नियंत्रण में रहना चाहिए और कम से कम बाहर निकलना चाहिए। पर्दा और घूंघट प्रथा ही नहीं अपितु अभिजात्य वर्ग में 'असूर्यपश्या' जिसको सूरज भी नहीं देख सके, होना ही उसकी सुरक्षा का आधार माना गया था। बिडम्बना पूर्ण स्थिति यह बनती है कि कुल अपराध का बहुत कम हिस्सा ही सामने आ पाता है जिससे अपराधियों के हौसले बुलन्द होते रहते हैं। मजदूर जातियों और वर्गों की महिलाओं को अपने जीवन यापन के लिए बाहर निकलने की मजबूरी रही है जिससे सबसे अधिक यौन अपराध उन्हीं जातियों की महिलाओं के खिलाफ होते रहे हैं जो प्रयास करने के बाद भी उच्च वर्ग और वर्ण के खिलाफ न्याय भी पा सकने में समर्थ नहीं हो पातीं। यदि कोई अविवाहित लड़की बलात्कार की शिकार हो जाती है तो यौन शुचिता को विवाह की शर्त मानने वाले हमारे समाज का कोई भी व्यक्ति उससे विवाह करने के लिए तैयार नहीं होता और न ही उसके परिवार के लोग उस लड़की को बहू बनाने के लिए तैयार होते हैं। यही कारण है कि कुँवारी लड़कियों के खिलाफ सबसे अधिक यौन अपराध होते हैं और उन्हें ही सबसे अधिक छुपाया जाता है। इसलिए यौन अपराधों के खिलाफ कोई भी कानूनी मुहिम शुरू करने के साथ साथ जरूरी है कि समाज में कुछ धारणाओं को बदलने का अभियान चलाया जाये। यौन अपराधों के खिलाफ आगे आने वाले पुरुषों को बड़े स्तर पर यह घोषित करना होगा कि वे स्वयं या परिवार में ऐसी किसी लड़की को विवाह के लिए अपात्र नहीं समझेंगे जिसके खिलाफ कभी यौन अपराध हुआ हो। समाज में प्रतिष्ठित महिलाओं समेत उन सारी महिलाओं को इस बात के लिए प्रेरित करना होगा कि उनके जीवन में जब भी कोई किसी भी तरह के यौन अपराध का प्रयास हुआ हो तो वे उसका खुलासा करें ताकि हमदर्दी विकसित हो और निर्दोष पीड़िताएँ किसी हीन भावना का शिकार न हो सकें। बंगलादेश की प्रसिद्ध लेखिका तस्लीमा नसरीन ने अपने लेखन में इस तरह का प्रयास किया है और समाज के कुछ जाने माने लोगों के चेहरों की असलियत को उजागर किया है। पिछले दिनों विख्यात पत्रिका हंस में भी कुछ लेखिकाओं ने आत्मस्वीकार शृंखला के अन्तर्गत हमारे दोहरे समाज की सच्चाईयों को सामने लाने का प्रयास किया था। जब से सार्वजनिक जीवन में महिलाओं की भागीदारी बढ़ी है तब से उनका घर से निकलना भी जरूरी हुआ है और स्वतन्त्र महिला को घरेलू महिला की तरह सम्मान की दृष्टि से न देखने वाला समाज उनके घर से बाहर निकलने को उनकी कमजोरी समझ कर आक्रामक हो जाता रहा है। इस सोच में नयी स्थितियों के अनुरूप अपेक्षित बदलाव की गति बहुत धीमी है।

परिवार नियोजन के संसाधन विकसित होने के बाद यौन सम्बन्धों के बहुत से नये आयाम सामने आये हैं, क्योंकि यौन सम्बन्धों से गर्भधारण का परिणाम स्वैच्छिक हो गया है। यही कारण है कि बिना विवाह के यौन सम्बन्धों में बढ़ोत्तरी हुई है और लिव इन रिलेशन जैसे नये तरह के सम्बन्धों को कानूनी मान्यताएँ मिली हैं भले ही समाज ने अभी उन्हें पूरी तरह से मान्यता न दी हो। इस मामले में स्वाभाविक रूप से पुरुषों द्वारा ही प्रस्ताव किये जाते रहे हैं और नारी के मौन को या कमजोर इनकार को उसकी स्वीकृति माना जाता रहा है। परिवर्तन के दौर में समाज कई स्तरों पर काम करता है और नारी के इनकार के बारे में भ्रम होना सहज सम्भव है। इसे ठीक से न समझने वाले लोग भी इनकार को लज्जा समझ कर ज्यादती कर जाते हैं। अधिक खुले समाज की समझ में भी अब यह बात आ जानी चाहिए कि नारी के इनकार का मतलब इनकार ही है।

जो राजनीति पूरे तन्त्र पर नियंत्रण करती है उसका एक बड़ा हिस्सा सिद्धान्तहीन होकर उसे सत्ता, सम्पत्ति पाने का साधन बना बैठा है। सत्ता से जुड़े दबंगों के मन में न्याय के भय से मुक्त होने के दुर्गुण बहुतायत में देखे जा रहे हैं। यौन अपराधों के बड़े-बड़े मामले इसी क्षेत्र में घटित हो रहे हैं जिनमें से अनेक तो सार्वजनिक हो चुके हैं जबकि दबावों में अधिकांश सामने नहीं आ पाते। कैसी बिडम्बना है कि जो लोग स्वयं ही शपथ-पत्र देकर कह रहे हैं कि उन पर यौन अपराधों के प्रकरण दर्ज हैं उनको भी राजनीतिक दल संसद या विधानसभा के लिए टिकिट दे रहे हैं। पिछले दिनों सांसदों और विधायकों की ऐसी सूची मीडिया में सामने आयी है पर बड़े-बड़े वक्तव्य देने वाले किसी भी राजनीतिक दल ने अपने ऐसे सदस्यों से इस्तीफा माँगना तो दूर उनके लिए फास्ट ट्रैक कोर्ट में प्रकरण चलाने की माँग भी नहीं की है।

कानूनी परिवर्तन के साथ सामाजिक परिवर्तनों का बीड़ा उठाना भी बहुत जरूरी है और उसके लिए वे ही व्यक्ति या संस्थाएँ अधिक उपयोगी हो सकती हैं जिनका समाज में कुछ प्रभाव है। जिन युवाओं ने आगे आकर इस घटना पर अपने गुस्से को अभिव्यक्ति दी है उन्हीं पर यह जिम्मेवारी भी आती है कि वे सामाजिक परिवर्तन के लिए भी पहल करें। स्मरणीय है कि अपने अछूतोद्धार और साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए ही गाँधीजी पुरातनपंथियों की नफरत के शिकार बने थे और उन्हें अपनी जान गँवानी पड़ी थी। उनकी मूर्ति लगाने वालों ने उनके आदर्शों और सामाजिक सुधार के कामों को छोड़ दिया है जबकि सच यह है कि बिना सामाजिक परिवर्तन के समानान्तर कोई भी राजनीतिक परिवर्तन सफल नहीं हो सकता। देखना होगा कि समाज के दोषों में सुधार लाने का बीड़ा उठाने के लिए कौन आगे आता है!

❑

चौका बरतन से बुद्धत्व तक

मंजु रानी सिंह

सत्तर प्रतिशत नौकरानियों, मजदूरिनों की स्थिति ऐसी ही है। इन सबका वैवाहिक जीवन माँ बनने के बाद खत्म हो गया है, फिर भी चूड़ियाँ पहनती हैं, चमकदार सिन्दूर की रेखा से माँग सजाती है, वर्ष में पति के नाम होने वाले तीज त्यौहार भी कर लेती हैं।

सम्मन, वह भी अपने नाम देखकर पहले तो मैं चौंकी, पर पत्र वाहक ने बताया कि लेना जरूरी है, वरना गिरफ्तारी का वारंट भी आ सकता है। लिहाजा मैंने सम्मन स्वीकार लिया। वैसे भीतर-ही-भीतर मुझे चिन्ता और उत्सुकता दोनों ही थी। समझ नहीं आ रहा था कि आखिर किस मुकदमें से सम्बन्धित है यह। अत: मैं नियत तिथि से पहले ही मुकदमा जानने के लिए लोकल कोर्ट में गयी। पता चला कि 2008 में किसी लड़की के बलात्कार कांड से जुड़ा हुआ है यह मुकदमा। मैंने दिमाग पर जोर डाला तब जाकर कहीं याद आया कि मेरी एक नौकरानी की बारह वर्षीया लड़की के बलात्कार कांड में मैं न्यायायिक सहयोग करने के लिहाज से एक केस से संलग्न हो गयी थी फिर मेरी चिन्ता और घबराट दोनों चली गयी। मेरे परिवार, दोस्त, शुभचिन्तक, जिन्होंने भी यह सुना मुझे तरह-तरह की हिदायतें दी, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण थी कि इन सब झमेले में पड़ना नहीं चाहिए था। खैर मैं नियत तिथि पर कचहरी गयी, जिन्दगी में पहली बार एक छोटे शहर (बोलपुर, शान्ति निकेतन) की कचहरी का वातावरण देखा। अपनी सफेद पोशाक पर काले-काले कोर्ट पहने स्त्री-पुरुष वकीलों की भीड़ में साधारण जनता उनसे तरह-तरह की सहायता माँगती हुई दयनीय सी रंग-रौगन से बेजार बेजान पुरानी बिल्डिंगों में छोटे-छोटे कमरे जिनमें अंग्रेजों के समय के मानो टेबल बेंच। मैला-कुचैला प्राणहीन माहौल। इसी माहौल में एक बूढ़ा वकील थके चेहरे वाला पी.पी. था जिसने मुझे गौर से देखा और एक एकान्त में जाकर मुझसे जुड़े केस के सम्बन्ध में कुछ पूछताछ की। मुझे उसने कुछ प्रश्न किये और कहा कि ये प्रश्न ही वह मजिस्ट्रेट के सामने करेगा। मुझे किसी प्रश्न के उत्तर से कोई एतराज नहीं था। मैं निडर थी पर वह मुझसे घबराहट की उम्मीद कर रहा था। खैर, कटघरे में पहली बार मैं खड़ी हुई जहाँ कोई गीता, रामायण न रखकर उन्होंने एक पन्ने पर लिखकर बंगला में रखा था आमि जा बोल वो, सन्ति बोलबो, किछु कम बा बेशि-बोलबोना, आमि कथा पिच्छि।'

मतलब मैं वादा करता हूँ कि जो बोलूँगी सच बोलूँगी, कुछ कम या ज्यादा नहीं कहूँगी-जितना जानती हूँ उतना ही कहूँगी।

लेखिका हिन्दीभवन, विश्वभारती में प्रोफेसर हैं।
mrsingh17@gmail.com
+919434326334

मैंने बंगला में कागज पढ़ा और पूछे गये पक्ष और प्रतिपक्ष के वकीलों के प्रश्नों के उत्तर दिये, पर हंसी तब आई जब बंगला के उत्तर को उन्होंने अंग्रेजी में लिखा और मेरा हस्ताक्षर जबकि यह घटना एक अनपढ़ औरत की नाबालिग लड़की के बलात्कार से जुड़ी थी।

वह औरत मेरे घर नौकरानी थी, तीन ही दिन हुए थे मेरे घर काम पर उसे लगे हुए। चौथे दिन वह मेरे यहाँ नहीं आई और पाँचवें दिन आई तो रो-रो कर बताया कि जब वह मेरे घर काम पर आई थी उसकी बेटी के साथ पड़ोसी के किसी युवक ने बलात्कार किया, वह थाने गयी पर थाने में उसका केस ठीक से दर्ज नहीं किया जा रहा है। सुनकर उसे लेकर थाने गयी। इंचार्ज से मिली, सारी बातें बतायीं जिसका असर हुआ। उन्होंने असिस्टेंड को बुलाकर जब पूछा तो गड़बड़ी का पता चला। उसने केस में लड़की के कहे गये बलात्कार शब्द को छेड़खानी कहकर दर्ज किया था। मेरे कहने पर लड़की और माँ को पुनः बुलाया गया और रपट फिर से लिखी गयी। 'बलात्कार' शब्द उन्हें केस को आगे बढ़ाने को बाधय कर रहा था जो बढ़ाया गया। लड़की को थाने से पुनः कोर्ट जाना पड़ा, पूरी बात मजिस्ट्रेट के सामने उसने घबराते हुए ही सही पर सच-सच बतायी। मेरा पूरी तरह उसे समर्थन था। हालांकि थाने के बड़े बाबू ने तथा आफिसर इंचार्ज ने भी समझाया जरूर था कि ऐसे सब केस में मुझे नहीं पड़ना चाहिए। बाद में लड़की मुकर जाएगी और मेरी बड़ी फजीहत होगी। कोर्ट कचहरी के चक्कर भी लगाने होंगे। और वह मेरी परमानेंट नौकरानी भी नहीं है, जब मर्जी होगी, काम छोड़ भी देगी। नसीहत के बाद भी मैंने उन्हें अपनी संलग्नता दिखाई तो केस आगे बढ़ा दिया गया, जिसका परिणाम यह 'सम्मन' था। यह सच है कि वह औरत आज मेरे घर काम नहीं करती है। मेरे शुभचिन्तकों ने जो-जो नसीहतें दी थी वे सब सही उतरीं पर मुझे किसी बात का परिताप नहीं है। मैं उस दिन भी जिस कारण से थाने गयी थी आज भी 'सम्मन' मिलने पर बरकरार है। औरत मेरे लिए बागदार होगी तो मैं उसकी सहायता करूँगी यह मुद्दा मेरे लिए महत्त्वपूर्ण था ही नहीं। एक गरीब औरत जब पति के छोड़ देने पर अपने लिए एक रोजगार खोजती है तो उसके पीछे उसके झोपड़ीनुमा घर में उसके बच्चों के लिए सामाजिक भेड़िए ताक लगाए बैठे रहते हैं, जब चाहे हमला कर देते हैं और व्यवस्था में जो रक्षक हैं वे अपने दायित्व के प्रति सजग भी नहीं है, बल्कि वे भेड़ियों के ही साथ हो जाते हैं। मुझे यह भी पता चला कि पुलिस और कोर्ट दोनों ही जगह बलात्कारी को बचाने की पूरी कोशिश की जा रही है। सवाल कई उठते हैं–एक कामगार स्त्री की क्या जगह है समाज में? समाज और व्यवस्था से उसे क्या उम्मीद होनी चाहिए? उसकी कौन-कौन सी उम्मीदें पूरी होती हैं? नहीं होती हैं तो जिम्मेदार कौन है?

वह अपनी इज्जत लुट जाने पर कहाँ जाए? कहाँ फरियाद करे। 2008 का केस 2012 तक चल रहा है, तब तक वह छोटी लड़की 12 वर्ष से सोलह की हो गयी है, उसके विवाह की जो चिन्ता उसकी माँ को है, उसे कौन दूर करेगा? अभी मेरे घर दूसरी औरत काम कर रही है, स्थिति में कोई खास अन्तर नहीं है। पुरानी नौकरानी को भी एक लड़की होने पर उसके पति ने छोड़ दिया था, दूसरी शादी कर इसी शहर में रह रहा था, औरत ने अपनी बेटी-माँ सहित अपनी गृहस्थी चलानी शुरू की घर-घर चौका बरतन कर। दूसरी नौकरानी को भी एक बेटा देकर उसका पति छोड़ गया है वह भी अपनी माँ के घर रहकर चौका-बरतन का काम करते हुए अपना जीवन जी रही है। इस तरह सत्तर प्रतिशत नौकरानियों, मजदूरिनों की स्थिति ऐसी ही है। इन सबका वैवाहिक जीवन माँ बनने के बाद खत्म हो गया है, फिर भी चूड़ियाँ पहनती हैं, चमकदार सिन्दूर की रेखा से माँग सजाती है, वर्ष में पति के नाम होने वाले तीज त्यौहार भी कर लेती हैं।

मैं पूछती हूँ आखिर क्यूँ?'

'क्या करें? हमारा यही भाग्य है। इस दुर्भाग्य को काटते हुए फिर अपनी बेटी की शादी के लिए रुपए, गहने इकट्ठा करने में लग जाती हैं कई बार ये पुनर्लग्न भी करती हैं पर हस्र में कोई बदलाव तो नहीं आता।

प्रसाद ने जब 'ध्रुवस्वामिनी' लिखा था तब एक मजबूत भूमिका भी लिखी थी, ताकि ध्रुवस्वामिनी के 'पुनर्लग्न' पर सवाल न उठें।

आचार्य कौटिल्य का हवाला देते हुए प्रसाद बताते हैं कि आठ वर्ष तक वन्धया, दस वर्ष तक बिन्दु अर्थात् नश्चत्प्रसूति, बारह वर्ष तक कन्या प्रसविनी की प्रतीक्षा करके पुत्रार्थी दूसरी स्त्री ग्रहण कर सकता है। प्रसाद को कितना तर्क खोजना पड़ा था, पर समाज में जिन स्त्रियों की चर्चा की जा रही है उनमें उपर्युक्त कोई भी कमी न होते हुए भी वे त्याज्य हो जाती हैं और समाज इस मायने में कहीं भी खड़ा नहीं होता।

प्रसाद ध्रुवस्वामिनी के पक्ष में जो तर्क देते हैं उसके अनुसार पुरुष यदि नीच हो, नपुंसक हो, बारह वर्ष तक परदेस स्थित हो तो स्त्री दूसरा विवाह कर सकती है। पर आज पुनर्लग्न के बाद ध्रुवस्वामिनी को चन्द्रगुप्त ही मिलेगा इसकी तो कोई गारंटी भी नहीं। समाज की इस स्थिति को करुण कहना सही लगता है। समाधान की सोचते-सोचते बुद्ध याद आते हैं। संसार की नित्यता, अनित्यता आदि से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों के ऊपर में या वे मौन ही रहे या किसी सहज रूपक द्वारा समझाते हुए प्रश्नकर्ता को उसके प्रश्न की व्यर्थता तक पहुँचा आए। उनके निकट चार आर्य सत्य हैं। दुःख, दुख समुदाय (कारण), दुख निरोध और दुख विरोधगामिनी प्रति प्रदा। यह दुख न किसी आध्यात्मिक जगत का दुख है और न सूक्ष्म दार्शनिक जगत के असंतोष का पर्याय है, प्रत्युत प्रत्यक्ष जीवन का दुख है। दुख विरोध का आष्टांगिक मार्ग बुद्ध दिखलाते हैं–'सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम सम्यक् समाधि।' (सम्मादृष्टि सुत्तंत) उपर्युक्त आष्टांगिक मार्ग आखिर मौलिक दुखों के समाधान के लिए ही है। यह समझते हुए भी बहुतों को बुद्ध का पता नहीं पर जीवन में आष्टांगिक मार्ग से एक दो चुन लिए जाते हैं जैसे।

अभी जो नौकरानी है, वह पहले वाली की अपेक्षा आधुनिक है, वह सिन्दूर नहीं लगाती, बेटे को पढ़ाने के लिए कलकत्ते की नौकरी छोड़ बोलपुर आ गयी है तो क्या मान न लूँ कि जीवन के अनुभव ने ही उसे दृष्टि, संकल्प कर्म, आजीव आदि दिए हैं जो सम्यक् के कुछ करीब है?

❑

lk{kkRdkj

'लोकतन्त्र के लिए इस्लाम को ठीक करना जरूरी'

कुलदीप नैयर से **किशन कालजयी** की बातचीत

प्रस्तुति : **रुचि आनन्द**

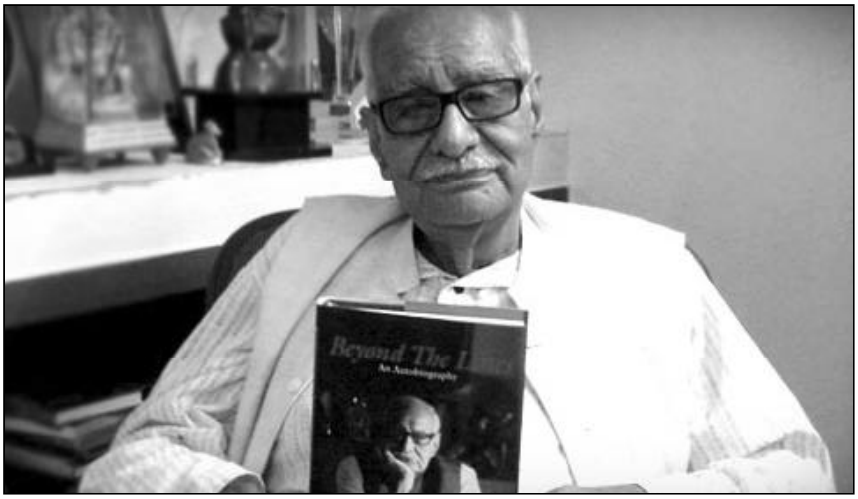

यह मानने में कोई दिक्कत नहीं है कि पकिस्तान में हालात ज्यादा खराब थे। लेकिन मेरा अनुभव यह कहता है वहाँ भी हालात बदल रहे हैं। उनकी समस्या है कि पकिस्तान का आधार ही भारत के विरोध पर खड़ा है। वहाँ लोग हमारी तरह स्वतन्त्र नहीं हैं। जो लोग अच्छे भारत-पकिस्तान सम्बन्धों की बात करते हैं उनसे पाकिस्तानी फौज पूछती है कि फिर हमारी जरुरत ही क्या है। फौज का भारत विरोधी बने रहना उनकी जरुरत है।

भारत और पाकिस्तान का बँटवारा दोनों देशों के अमन चौन को ध्यान में रखते हुए किया गया था पर यह वैमनस्य लगातार बढ़ता ही गया। आप पिछले तिरसठ वर्षों से लगातार इस सम्बन्ध को जीते रहे हैं। आपकी बात दोनों तरफ सुनी जाती है। ऐसे में आप दो देशों के बीच के बिगड़ते सम्बन्ध को किस तरह देखते हैं?

दोनों देश के बीच बँटवारा धर्म के आधार पर किया गया। यह गलत था। जब धर्म का आधार रखा तो संरचना तो गलत होना था। जिन्ना की इच्छा एक धर्मनिरपेक्ष राज्य बनाने की थी, पर दोनों देश में संरचना के आधार पर भी बहुत भिन्नता है और इसलिए यह सम्भव नहीं हो पाया। मुहम्मद जिन्ना पाकिस्तान को 'सेक्युलर स्टेट' बनाना चाहते तो थे पर उनके बाद पाकिस्तान की राजनीति में मुल्ला-मौलवी का प्रभाव काफी बढ़ गया। जहाँ भारत में प्रजातन्त्र स्थापित हुआ पर पाकिस्तान में यह सम्भव नहीं हो सका। भारत में कम से कम समय पर चुनाव होते हैं, सरकारें बदलती हैं। पकिस्तान में ऐसा हो नहीं पाया। आज जब भारत पाकिस्तान के बारे में बात करते हैं तो हमें दो स्तरों पर सोचना होगा। पहला, लोगों के स्तर पर और दूसरा हुकूमत के स्तर पर। पहले स्तर पर सम्बन्ध इतना बुरा नहीं है। विदेशों में भारत और पकिस्तान के लोगों में बेहद दोस्ती होती है। उनकी संस्कृति, खाने पीने और सामाजिक रीति रिवाजों में समानता है। वे आपस में मिलना जुलना चाहते हैं। शायद ही कोई भारतीय हो जिसे पकिस्तान जा कर बुरा अनुभव हुआ हो। इसी तरह की बात भारत आने वाले पाकितानी के बारे में भी कही जा सकती है। इसलिए यदि यहाँ के लोगों को वहाँ के लोगों से मिलने जुलने दिया जाता तो बहुत फर्क पड़ता। अभी भी यदि यह हो सके तो हम सम्बन्ध सुधर सकता है। लेकिन हुकूमत के स्तर पर ठीक इसके विपरीत है। विभाजन के बाद राजनैतिक स्तर पर हमारे सम्बन्ध लगातार खराब होते चले गए। हमने वीसा देना बन्द कर दिया। साठ साल के, अस्सी साल के लोगों को हम वीसा दे भी दें तो क्या फर्क पड़ेगा। कलाकारों और खिलाडियों को वापस भेज देने का क्या तुक है। अब वहाँ के लोग जागरूक हो रहे हैं हमें उनके साथ खड़ा होना चाहिए। व्यापार को बढ़ावा देना चाहिए। हमें समझना

रुचि आनन्द जेएनयू में शोधार्थी हैं।
juuruchi@gmail.com
+919818766821

पड़ेगा कि वहाँ फौज का वर्चस्व ज्यादा है, तालेबान का भी जोर है। जो लोग प्रजातन्त्र के समर्थक हैं हमें उनके साथ खड़ा होना पड़ेगा ताकि वहाँ प्रजातन्त्र स्थापित हो सके। एक प्रजातान्त्रिक पकिस्तान भारत के लिए बेहतर पड़ोसी होगा।

कुछ लोगों का मानना है कि इस्लाम और प्रजातन्त्र का एक साथ चलना सम्भव नहीं है। वे दुनिया भर के मुस्लिम देशों का हवाला देकर कहते हैं कि इन देशों का ताल मेल बिठाना लगभग असम्भव है।

इस बात से पूरी तरह सहमत होना मुश्किल है। हमारे पास बांग्लादेश का उदाहरण है। हालाँकि वह काफी छोटा देश है और इसका समय अन्तराल भी काफी कम है। पर यह सच है कि इस्लाम धर्म में 'डेमोक्रेटिक स्पेस' उतना नहीं है जितना कि हिन्दू धर्म में। यह सच है कि पाकिस्तान में अल्पसंख्यकों की हालत अच्छी नहीं है। हिन्दू धर्म में एक तरह का व्यक्तिगत स्पेस हैं। आप भगवान को मानते हों या नहीं, रीति रिवाजों को मानते हैं या नहीं इससे हिन्दू होने पर कोई फर्क नहीं पड़ता है। लेकिन इस्लाम में ऐसा नहीं है। आज कल तो हिन्दू समाज में भी यह स्पेस कुछ कम होता जा रहा है। उकसावे से ही सही हिन्दू समाज में भी सहिष्णुता की कमी होती जा रही है। हालाँकि अब इस्लाम को नये सिरे से समझने का प्रयास किया जाने लगा है। आजकल कई लोग कुरान को 'रि-इन्टरप्रेट' या फिर इसकी पुनर्व्याख्या की बात कर रहे हैं। हालाँकि मेरा मानना है कि भारत पकिस्तान के सम्बन्धों में धर्म को लाने की जरुरत नहों है।

आपका जन्मदिन 14 अगस्त को है। आप पिछले बीस वर्षों से इस दिन बाघा बॉर्डर जाते हैं और शान्ति के लिए प्रार्थना करते हैं। आपको लगता है इसका कुछ प्रभाव पड़ सकता है।

मेरा जन्मदिन 14 अगस्त को होना महज एक इत्तेफाक है। मैं 'शान्ति' की प्रक्रिया में विश्वास रखता हूँ और मुझे लगता है लोगों के आपसी मेल-जोल से, एक दूसरे के देश में आने जाने से रिश्तों में सुधार की गुंजाइश है। मैं पिछले बीस सालों से वहाँ जा रहा हूँ। वहाँ हमलोग 'भारत-पाकिस्तान जिन्दाबाद के नारे लगाते हैं। इसमें हिस्सा लेनेवाले लोगों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है की दोनों तरफ के लोगों में मिलजुल कर रहने की तमन्ना है। कई लोगों ने कहा नैय्यर साहब चलिए तोड़िये इस बर्लिन दीवार को। ऐसे में अगर हम बर्लिन की दीवार के बारे में सोचें तो लगता है उस समय के हालात और भी मुश्किल थे। आज हमारे बीच कम से कम बातचीत का दौर समय समय पर लगातार चलता रहा है।

हाल में ही जिस तरह भारत और पाकिस्तान के बीच 'लो स्केल वार' जैसी स्थिति पैदा हो गयी और कहीं न कहीं से दो देशों के रिश्तों में सबसे अहम् मुद्दा कश्मीर का रहा है। ऐसे में क्या आपको लगता है की कश्मीर के मुद्दे का हल बातचीत से सम्भव है?

हमें यह सोचना पड़ेगा कि ऐसा किस परिस्थिति में हो रहा है। आज हम देख सकते हैं कि जिस तरह की गतिविधि पाकिस्तान कर रहा है, भारत भी कुछ वैसा ही कर रहा है। 'सिविल सोसायटी' की भूमिका बहुत ही अहम् है। जैसे अगर हम मुम्बई हमले की बात करें तो इसमें शामिल सभी लोग पाकिस्तानी ही नहीं थे इसमें कुछ भारतीय भी शामिल थे। हमें इस तरह की बातों को स्वीकार करना होगा। लेकिन इन घटनाओं पर इतना ओवर रियेक्ट नहीं करना चाहिए।

जिस तरह से मुस्लिम कौम अपने 'रीलिजन' को अपनी अस्मिता के साथ जोड़कर देखते हैं, जैसे आजकल 'हेट स्पीच' का मुद्दा उठ रहा है उससे लगता है कि उनके दिमाग से से यह निकल पाना काफी मुश्किल है कि किसी देश में वे शान्तिपूर्वक अन्य बहुसंख्यक समुदाय (मेजोरिटी कम्युनिटी) के साथ रह सकते हैं। इस पर आपकी क्या राय है?

हिन्दू और इस्लाम–दोनों धर्म बहुत अलग हैं। भारत और पाकिस्तान की आजादी के साठ साल से अधिक गुजर गये पर अब तक दो देशों के बीच बात नहीं बनी। पर अब हालात बदलते नजर आ रहे है। हमें यह ध्यान रखना होगा कि दोनों देशों में शक्ति संरचना (पॉवर स्ट्रक्चर) बहुत अलग है। आपसी सम्बन्धों को सुधारने के लिए हम अब तक कई तरह के प्रयास कर चुके हैं। हाल ही में शुरू हुए 'पीपल टू पीपल कांटेक्ट' जैसे विद्यार्थियों, वकीलों, कलाकारों, खिलाड़ियों, सैलानियों आदि का एक दूसरे के देश में आने जाने की प्रक्रिया शुरू की गयी है और हम कुछ बेहतर सम्बन्ध की आशा रखते हैं।

जहाँ तक रीलिजन को अस्मिता से जोड़ कर देखने का सवाल है ऐसा तो यहाँ भी हो रहा है। यहाँ भी इस अस्मिता के नाम पर हिंसा होने लगी है। यह मानने में कोई दिक्कत नहीं है कि पकिस्तान में हालात ज्यादा खराब थे। लेकिन मेरा अनुभव यह कहता है वहाँ भी हालात बदल रहे हैं। उनकी समस्या है कि पकिस्तान का आधार ही भारत के विरोध पर खड़ा है। वहाँ लोग हमारी तरह स्वतन्त्र नहीं हैं। जो लोग अच्छे भारत-पकिस्तान सम्बन्धों की बात करते हैं उनसे पाकिस्तानी फौज पूछती है कि फिर हमारी जरुरत ही क्या है। फौज का भारत विरोधी बने रहना उनकी जरुरत है। इसलिए उनकी किताबों में भी भारत विरोधी बातें पढाई जाती हैं। मेरे कुछ दोस्त अभी पकिस्तान से आये थे। कहने लगे कि आपको मालूम नहीं है कि वहाँ से चलते समय सबलोग रोने लगे। उन्हें लगता है कि हर पाकिस्तानी को भारत में मार दिया जाता है। जबकि सच तो यह है कि हमें यहाँ इतना प्यार मिलता है।

हमारे यहाँ एक कुलदीप नैयर हैं जो भारत में रहकर भी पाकिस्तान की भी बात करते हैं। ऐसे कितने लोग पाकिस्तान में हैं? क्या आप कुछ लोगों का नाम बताना चाहेंगे?

कुछ ऐसे लोग पकिस्तान में भी हैं मसलन आयशा सिद्दीकी, डॉक्टर मुबस्सिर। पर वे लोग इतना अधिक नहीं कर पा रहे है क्योंकि वहां की बात अलग है। उन्हें बात करने की आजादी उस तरह से नहीं जैसे हम कर पाते हैं।

आप कह रहे हैं की अब वहाँ हालात बदल रहे है। क्या आपको लगता है कि अगर पाकिस्तान मुल्लाओं के कब्जे से बाहर निकल जाये तो आने वाले दिनों में भारत के अच्छे सम्बन्ध होने की सम्भावना है?

पाकिस्तान हमारा पड़ोसी देश है जिसके पास परमाणु शक्ति है। ऐसे में हमें बहुत सोच समझ कर काम करना पड़ेगा। अब पाकिस्तान के हालात बदल रहे हैं, मसलन अभी अमेरिका पाकिस्तान के लिए भारत से बड़ा दुश्मन है। तालिबान के मुद्दे को लेकर दोनों देशों के बीच दूरी पहले की तुलना में काफी बढ़ गयी है। ऐसे में भारत को अपने पड़ोसी देश के प्रति क्या व्यवहार रखना है, यह सोचने की बात है।

भारत के लिए एक जनतान्त्रिक पड़ोसी हमेशा ही बेहतर होगा। फौज और मौलवियों के हाथों से सत्ता निकल कर अवाम के पास हो तो हमारे लिए बेहतर होगा। पकिस्तान का बना रहना हिन्दुस्तान के लिए बेहतर है क्योंकि अफगानिस्तानी तालिबानों से हमें सीधे उलझने की जरुरत नहीं होगी।

क्यों न हम पाकिस्तान की छवि को अधिक प्रभावशाली ढंग से दुनिया के सामने लाने की कोशिश करें?

इससे बात बिगड़ने की आशंका है। ऐसे में युद्ध का खतरा भी सम्भव है। पाकिस्तान के आक्रामक तेवर को हमें ध्यान में रखना होगा। मैं शान्ति की पहल कर रहा हूँ। मैं जो लेख भारत के अखबारों के लिए लिखता हूँ वही लेख पकिस्तान और बांग्लादेश के अखबारों में भी प्रकाशित किया जाता है। इससे एक अच्छी बात हुई है कि उनका मेरे बारे में 'एंटी-पाक' या पाकिस्तान विरोधी नजरिया है। अब वहां के युवक भी धीरे धीरे भगत सिंह को एक प्रभावशाली नेता मानने लगे है। मेरी नजर में ये कुछ अच्छे संकेत हैं।

दोस्ती से पहले मुलाकातों का सिलसिला बनना जरूरी है। 'पीपल टू पीपल कांटेक्ट' के लिए जितना प्रयास हम कर रहे हैं उसी अनुपात में वहाँ से भी प्रयास नहीं हो रहा है। हमारे देश की छवि 'ओपन सोसायटी' के रूप में है जबकि पकिस्तान 'ओपन सोसायटी' नहीं है। इसलिए इधर से ज्यादा प्रयास हो रहे हैं। हमें अपनी ओर से उन्हें मदद करनी चाहिए। उनके मन में यह बात बैठी है कि हमने बांग्लादेश को अलग होने में मदद की। लेकिन इसमें कसूर पकिस्तान का था। शेख साहब से मेरी मुलाकात में उन्होंने साफ-साफ कहा कि भुट्टो कीगड़बड़ी से यह सब कुछ हुआ है क्योंकि बहुमत में होने के बावजूद मेरी सरकार नहीं बनने दी गयी।

मुझे कई सारे 'हेट मेल' आते रहते हैं। मैं हिन्दू हूँ या सिख इस बात को लेकर भी काफी विवाद होता रहा है। गूगल में लिखा है कि मैं सिख था और फिर हिन्दू बन गया। हमारे यहाँ सिख और हिन्दू में कोई फर्क नहीं था। हमारे यहाँ पहला लड़का सिख होता था। मेरा बड़ा भाई सिख था। यह सब राजनैतिक दलों का खेल है। गुरु ग्रन्थ में राम का नाम ही है। मैंने पूछा कि राम कौन है तो कहने लगे कि यह आप वाला राम नहीं है। इसलिए मजहब की लड़ाई लोगों के दिलों की लड़ाई कम और राजनीतिकरण का ज्यादा परिणाम है।

आप दो बातें कह रहे हैं –एक, हिन्दुस्तान को कैसे पाकिस्तान के साथ 'डील' करना चाहिए क्योंकि पाकिस्तान की जो हालत है उसमे अगर भारत उस पर अधिक दबाव डाले तो आगे पाकिस्तान के और अधिक उग्र होने की सम्भावना है। दूसरा, अभी पाकिस्तान हमारे लिए 'बफर जोन' सा है, और वो खत्म हो सकता है, इसलिए हिन्दुस्तान के हिन्दुओं को भी पाकिस्तान के साथ सहनशील रहना चाहिए।

भारत में मुस्लिमों के बीच असुरक्षा की भावना ठीक नहीं है। भारत को इसके लिए लगातार प्रयास करते रहना चाहिए। पकिस्तान को प्रजातान्त्रिक होना हमारे लिए जरुरी है। पकिस्तान से जब भी कोई विवाद होता है हमारे यहाँ मुसलमानों को शक की निगाह से देखा जाता है। इससे उनमें एक तरह की असुरक्षा की भावना होती है। हमारे पास पकिस्तान के साथ दोस्ताना सम्बन्ध के अलावा कोई और रास्ता नहीं है। अन्यथा दुनिया के शस्त्र विक्रेता इस विवाद का फायदा उठाते रहेंगे।

आप 'पीपल टू पीपल कांटेक्ट' की बात कर रहे हैं और सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया के लिए वह बहुत जरूरी है पर इस्लाम के अन्दर जो समस्याएँ है उसे भी बदलना जरूरी है। क्योंकि पहले इस्लाम दुनिया के एक खास हिस्से में था पर दुनिया के लगभग हर कोने में है, ऐसे में इस्लाम को अन्य धर्मों के साथ मिलकर रहने के लिए सीखने की जरूरत मालूम होती है। क्या पाकिस्तान में आपको ऐसी सम्भावना दिखती है?

पाकिस्तान में कुछ मुस्लिम इस दिशा में सोच रहे हैं। होलैंड में मेरा एक दोस्त है जिसका कहना है कि जब तक तुम इस्लाम को ठीक नहीं करोगे तब तक दुनिया में प्रजातन्त्र लाना सम्भव नहीं। उसका नाम अशरफ मुफ्ती है और वह उर्दू में काफी लिखता है।

कादरी के बारे में आपकी क्या राय है?

मुझे लगता है कि उसे पश्चिम से मदद मिल रही है। साथ ही उसे सेना का भी समर्थन है। फोज भी कादरी का समर्थन कर रही है, एसा लगता है। इमरान ने कह दिया कि फौज हिन्दुस्तान जैसी होगी और यह बात पाकिस्तानी फौज को कतई पसन्द नहीं हो सकती है।

पाकिस्तान में सत्तर प्रतिशत संसाधन पर सेना का कब्जा है। ऐसे में पकिस्तान में आन्तरिक द्वन्द्व की स्थिति महसूस होती है। सेना और इस्लाम ये दोनों ही साथ मिलकर पाकिस्तान को प्रजातन्त्र के लिए सही जगह नहीं बनने देते है। ऐसे में क्या आपको वहाँ प्रजतन्त्र की सम्भावना दिखती है?

अगर फौज पीछे हट जाये तो प्रजातन्त्र का आना सम्भव है। ऐसा होना हमारे लिए बहुत अच्छा रहेगा। पर अभी फौज का जाना काफी मुश्किल लगता है। वहाँ की सेना भारत विरोधी कदम उठा कर ही अपने अस्तित्व को बचाए हुए है। किसी भी समय जरुरत के हिसाब से फौज भारत विरोधी बातें करने लगती है। पकिस्तान को भारत से खतरा बताकर लोगों को गुमराह करना आसन है। इस सन्दर्भ में मीडिया का व्यवहार ठीक नहीं है। हाल की घटनाओं को लें। पूरे दिन भर एक ही बात पर तरह-तरह के भड़काऊ बातें आती रही।

वहां भी प्रजातन्त्र के लिए सोच पैदा हो रही है। हमें बिना किसी हिंसा के उनका साथ देना चाहिए। सरकार से अल्पसंख्यकों को अधिकार देने की बात करनी चाहिए। हिन्दू मुस्लिम सम्बन्ध को समझने के लिए उनके दुखों को ठीक से सुनना चाहिए और दोनों समुदायों के बीच सम्बन्ध को बनाये रखना चाहिए। खासकर हिन्दुओं को उनके साथ बेहतर सम्बन्ध बनाना चाहिए। उनकी हालत बहुत अच्छी नहीं है हिन्दुओं को जिम्मेदारी के साथ उनसे सम्बन्ध बनाने की जरुरत है। पुराने समय के सम्बन्धों को फिर से स्थापित करना चाहिए, उसे टूटने से बचना चाहिए।

क्या ऐसा भी हो सकता है की इस नवउदारवादी आर्थिक नीति को एक विभाजित समाज की जरुरत है? यदि यह सच है तो क्या आपको लगता है कि इस नीति को लानेवाली पार्टी को समर्थन देना सही है?

यह सही है कि नवउदारवाद और सम्प्रदायवाद का गहरा सम्बन्ध हो सकता है। पार्टियों के मामले में हमारे लिए ज्यादा विकल्प नहीं है। सम्भव है कि अगला चुनाव फिर साम्प्रदायिक मुद्दों पर हो और गरीबी, महँगाई और बेरोजगारी का मुद्दा पीछे चला जाये। यह महत्त्वपूर्ण है और दिलचस्प भी।

❑

fge[kpy i=Sk

क्यों हारी भाजपा?

रूपक कुमार शर्मा

हिमाचल प्रदेश अपनी साफ-सुथरी राजनीति के लिए पूरे देश में मशहूर है। यहाँ चुनाव हमेशा से विकास के नाम लड़ा जाता रहा है। लेकिन इस बार चुनाव के प्रचार के दौरान यहाँ विकास कहीं पीछे छूटता नजर आया। जितनी भी चुनावी जनसभाएँ हुई उसमें दोनों ओर से भ्रष्टाचार के नाम पर दोनों ओर से जमकर तीर चले।

हिमाचल वासियों के लिए दिसम्बर 2012 दिसम्बर 2007 की कार्बन कॉपी था। बस फर्क सिर्फ इतना था कि इस बार यहाँ के सियासी हर्फ पर भाजपा की जगह कांग्रेस का नाम लिखा गया। दिसम्बर 2012 में वीरभद्र सिंह प्रेम कुमार धूमल के हाथों हारे थे और दिसम्बर 2012 में धूमल वीरभद्र से पराजित हुए। सियासी पंडितों की भविष्यवाणियों के बावजूद यहाँ की जनता ने अपनी रवायत कायम रखी। रवायत सरकार बदलने की। रवायत परिवर्तन की। रवायत मौका देने की। विकास की। . ..और शायद यही वजह है कि हिमाचल देश के बाकी प्रदेशों की कतार में अलग ही खड़ा नजर आता है।

चुनाव से पहले विधानसभा चुनाव को लेकर कई तरह के तर्क-वितर्क सुनने और पढ़ने को मिल रहे थे। कुछ सरकार के पक्ष में। कुछ सरकार के विरोध में। पर ज्यादातर बोलने वाले भाजपा सरकार की हिमायत कर रहे थे। ये उस दौर की बात है जब प्रदेश में कांग्रेस की कमान ठाकुर कौल सिंह के हाथों में थी। भाजपा सरकार की चुनावी मुहिम के सामने कांग्रेस बौनी साबित हो रही थी। ये भी माना जाने लगा था कि प्रदेश का इतिहास अबके बदल न जाए। भाजपा का मिशन रिपीट कहीं सफल न हो जाए। प्रदेश के हर आमो खास के साथ मीडिया तक में ये बात कही जाने लगी थी कि हिमाचल में भाजपा दोबारा सत्ता में आ जाएगी। दरअसल, इसके पीछे कारण भी था। छत्तीसगढ़ और मध्य प्रदेश में भाजपा खुद को रिपीट कर चुकी थी। पड़ोसी राज्य पंजाब में भी शिरोमणि अकाली दल - भाजपा गठबन्धन दोबारा सत्ता में आ गया था। ऐसे में प्रदेश को मिले अवॉर्ड और सीएम धूमल के काम को देखते हुए माना जाने लगा था कि भाजपा इस दफा रिपीट कर सकती है। पर आखिर में सर्वेसर्वा जनता ने अपना फैसला दिया और जता दिया कि लोकतन्त्र में उसे क्यों सबसे बड़ी ताकत कहा जाता है।

खैर, ये तो बात थी उस दौर की जब सरकार बनने को लेकर अटकलें लगाई जा रही थी। लेकिन भाजपा के हारने के बाद प्रदेश में सियासी हलकों और जनता के स्तर पर

लेखक टीवी पत्रकार हैं।
roopaksharma80@gmail.com
+919815871318

हार का पोस्टमॉर्टम किया गया जिसमें कुछ चीजें छन कर बाहर आईं। उनमें से एक था अति आत्मविश्वास। भाजपा माने या न माने लेकिन उसकी हार के लिए काफी हद तक उसका आत्मविश्वास कहीं न कहीं जिम्मेदार है। कमजोर कांग्रेस के आगे भाजपा को लगने लगा था कि इस बार उसे मिशन रिपीट से कोई नही रोक सकता। हालांकि भाजपा ने कांग्रेस से कहीं पहले चुनावी बिगुल फूंक दिया था। बाजे-गाजे के साथ सीएम साहब जहाँ भी जाते उनका स्वागत होता। भीड़ जुटती और ये संदेश जाता कि भाजपा की मुकबूलियत पहले जैसी ही है। शायद भाजपाई इसे गलत समझ बैठे। जमीनी स्तर पर काम करना थोड़ा कम कर दिया। और इसी का खामियाजा उन्हें बीस दिसम्बर के दिन उठाना पड़ा।

भाजपा की हार के कारणों में सबसे ऊपर गलत टिकट आवँटन रहा। प्रदेश के बारह जिलों की अड़सठ सीटों में से तकरीबन दस से बारह ऐसी सीटें थी जो गलत टिकट आवंटन की भेंट चढ़ गयीं। कांगड़ा जिले में 15 विधानसभा सीटें हैं। प्रदेश की राजनीति में कांगड़ा की बिल्कुल वही हैसियत है जो आम चुनाव के दौरान देश में उत्तर प्रदेश की होती है। कहा जाता है - यूपी जीतो, दिल्ली पर राज करो। ठीक वैसे ही हिमाचल में कहा जाता है - कांगड़ा जीतो और शिमला पर राज करो। इस बार भाजपा का प्रदर्शन कांगड़ा में निराशाजनक रहा। कांगड़ा में भाजपा को साल दो हजार सात के विधानसभा चुनाव में नौ सीटें मिली थीं, जो साल दो हजार बारह में सिमट कर तीन रह गयीं। जब कांगड़ा के टिकट फाइनल किये गये थे तभी से प्रदेश के सियासी पंडितों ने कहना शुरू कर दिया था कि यहाँ भाजपा ने अपनी हार के लिए टिकट बांटे हैं। पहले पहल ये महज एक आशंका भर लग रही थी लेकिन चुनावी परिणामों ने इसे सही साबित कर दिया।

बागी हर चुनाव में किसी भी पार्टी के लिए परेशानी का सबब बनते हैं। विधानसभा चुनाव 2012 के हिमाचल चुनाव में भी इन्होंने भाजपा को सत्ता से बेदखल करने में अहम भूमिका निभाई। बगावत के सुर टिकट आवंटन के दौरान ही उठने शुरू हो गये थे। कुछ ने मैदान में उतर कर बिगुल फूंका और कुछ को पार्टी ने मना लिया। कुछ ऐसे थे जिन्होंने गुपचुप तरीके से पार्टी को नुकसान पहुँचाया। ऐसे ही बागियों ने भाजपा का बंटाधार किया। प्रदेश में पाँच से सात सीटें ऐसी हैं जहाँ बगावत ने रंग दिखाया और भाजपा को बैकफुट पर धकेला।

पार्टी की हार के लिए एंटी इनकमबैंसी फैक्टर को भी जिम्मेदार कहा जा सकता है। साल 1990 के बाद से प्रदेश में हर विधानसभा चुनाव में एंटी इनकमबैंसी फैक्टर देखने को मिला है। हिमाचल की जनता की रवायत रही है कि हर पाँच साल बाद नयी सरकार। इस लिहाज से कहा जा सकता है कि भाजपा की हार के लिए में एंटी इनकमबैंसी एक वजह रही। हाँ, थोड़ा बहुत फर्क डी लिमिटेशन का पड़ा हो सकता है। डीलिमिटेशन के बाद प्रदेश में ये पहला चुनाव था। ऐसे में इसका असर दोनों दलों- कांग्रेस और भाजपा पर कमोबेश बराबर रहा। अगर कुछ फर्क पड़ा भी है तो तीन-चार सीटों पर। हालांकि डी लिमिटेशन ने कई नेताओं को उनके ही निर्वाचन क्षेत्र से बेदखल कर दिया था। पर जब इन नेताओं ने दूसरी सीटों पर जाकर चुनाव लड़े तो इनमें से ज्यादातर के हिस्से जीत ही आई। लिहाजा ये कहा जा सकता है कि हदबंदी से न तो किसी को बराबर का फायदा हुई और न ही नुकसान।

जानकार, भाजपा की हार के लिए वीरभद्र सिंह की वापसी को काफी हद तक जिम्मेदार मानते हैं। वैसे इसमें कोई दो मत नहीं है क्योंकि वीरभद्र सिंह से पहले प्रदेश में कांग्रेस बँटी-बँटी नजर आ रही थी। लेकिन आलाकमान ने जैसे ही वीरभद्र को कमान सौंपी, पूरी पार्टी एकजुट नजर आने लगी। अगर कहें कि वीरभद्र के आने से कांग्रेस को प्रदेश में संजीवनी मिली तो गलत नहीं होगा। हिमाचल में वीरभद्र का राजनीतिक कद क्या है, किसी को बताने की जरुरत नहीं। खुद कांग्रेसी मानते हैं कि वीरभद्र के बगैर प्रदेश में कांग्रेस का गुजारा नही हैं। हालांकि इस बार के चुनाव में कांग्रेस को उसी के गढ़ में मुँह की भी खानी पड़ी। सरमौर, चम्बा, मण्डी में कांग्रेस का प्रदर्शन बेहद निराशाजनक रहा। बावजूद इसके टिकटों का सही आवंटन और बागियों पर लगाम ने कांग्रेस को हिमाचल के ताज तक पहुँचा दिया।

हिमाचल प्रदेश अपनी साफ-सुथरी राजनीति के लिए पूरे देश में मशहूर है। यहाँ चुनाव हमेशा से विकास के नाम लड़ा जाता रहा है। लेकिन इस बार चुनाव के प्रचार के दौरान यहाँ विकास कहीं पीछे छूटता नजर आया। जितनी भी चुनावी जनसभाएँ हुई उसमें दोनों ओर से भ्रष्टाचार के नाम पर दोनों ओर से जमकर तीर चले। दोनों ओर के नेता खुद को सही और दूसरे को भ्रष्ट साबित करने में लगे थे। बहरहाल अब चुनाव खत्म हो गये हैं। चुनावी माहौल भी शांत हो गया है। कमान वीरभद्र सिंह के अनुभवी हाथों में है। देखना दिलचस्प रहेगा अपने सियासी जीवन के मुख्यमंत्रित्व काल की छठी पारी में वो हिमाचल को कौन से नये मुकाम पर पहुंचाते हैं? ❑

gfj ;k.kk

किस पार्टी के कुलदीप बिश्नोई

प्रदीप सिंह रावत

हरियाणा विधानसभा में अपने दल का प्रतिनिधित्व करने वाली हजकां की इकलौती विधायक रेणुका बिश्नोई किस दल से सम्बन्ध रखती हैं और कुलदीप बिश्नोई लोकसभा में हिसार से सांसद तो हैं लेकिन किस दल से हैं? जब ये सवाल विधानसभा स्पीकर कुलदीप शर्मा से पूछा गया तो उन्होंने गेंद चुनाव आयोग के पाले में डाल दी।

13 जनवरी 2013। रविवार। सूर्य के उत्तरायण होने से एक दिन पहले। लोहड़ी का पर्व। सर्दी के मौसम की बढ़ती उम्र और ठिठुरते बदन में गर्मी के पास आने की आस के बीच जब सब ओर सिर्फ सर्दी का सितम था, खेल के मैदान से लेकर राजनीति के गलियारों तक। ऐसा इसलिए क्योंकि इन दिनों देश में कोई बड़ी राजनीतिक उठापठक नहीं थी। शायद सर्दी ने राजनीतिक नल कूपों का पानी भी जमा दिया था। खेल के मैदान और बॉर्डर दोनों जगह पाकिस्तान से आमना-सामना था। लेकिन सर्दी ने यहाँ भी अपना रंग जमा रखा था। फिरोजशाह कोटला वन डे में भारतीय टीम ने पहले खेलते हुए 167 बनाए तो दिल्ली की सर्दी में पाकिस्तान ये बाजी 10 रन से हार गया। दोनों देशों की सीमाओं पर भी बवाल जारी था। इस बीच हरियाणा प्रदेश की शांत पड़ी राजनीति की गली में सुप्रीम कोर्ट ने अपने कदम रखे और करीब साढ़े तीन साल से चले आ रहे दल-बदल मामले में सुप्रीम कोर्ट से मिली समय सीमा के अंतिम दिन विधानसभा अध्यक्ष कुलदीप शर्मा ने 29 पन्नों का फैसला सुना दिया। कुलदीप शर्मा ने कुलदीप बिश्नोई, अजय चौटाला समेत सभी 14 याचिकाओं को रद्द कर दिया और हरियाणा जनहित कांग्रेस (हजकां) के 5 विधायकों के कांग्रेस में विलय को जायज ठहराया। साथ ही कहा गया कि हजकां के पांचो विधायकों ने अपनी पार्टी का कांग्रेस में विलय किया है। लेकिन क्रिकेट से अधिक राजनीतिक समझ रखने वाले इस मुल्क में सर्दी की ठिठुरन में भी कोई गर्मी नहीं आई। ज्यादातर लोगों को पहले से ही इस फैसले का ही अंदेशा था। फैसला आने से पहले हौव्वा तो खूब बना लेकिन खोदा पहाड़ और निकली चुहिया, वो भी मरी हुई। विधानसभा स्पीकर कुलदीप शर्मा एक वकील भी हैं ये बात इस मामले के दौरान वो कई बार दोहरा चुके थे। वैसे इस देश में पत्रकारिता का कोर्स करने वाला खुद को पत्रकार और यूनिवर्सिटी स्तर पर बल्ला भांजने वाले खुद को क्रिकेटर मानते हैं। खैर छोड़िए, कुलदीप शर्मा ने भारत के संविधान की दसवीं अनुसूची का हवाला दिया जो विधायकों के दो तिहाई बहुमत के समर्थन के साथ किये गये विलय

लेखक टी.वी. पत्रकार हैं।
sanjusrawat@gmail.com
+919958205517

को अनुमति देता है। इस लिहाज से हरियाणा जनहित कांग्रेस का कांग्रेस में विलय स्वीकार किया है। वहीं मामले में विपक्ष के वकील और पूर्व सांसद सतपाल जैन कहते हैं कि किसी दल के दो तिहाई विधायक किसी अन्य दल में विलय कर सकते हैं लेकिन इसका फैसला पहले पार्टी की वर्किंग कमेटी की बैठक में लिया जाता है। इसमें पार्टी के प्रधान की सहमति भी जरुरी है। बकौल सतपाल जैन इस मामले में ऐसा कुछ नहीं हुआ।

इस पूरे मामले में स्पीकर के फैसले से ज्यादा फैसला देने के वक्त और फैसले की नीयत पर चर्चा अधिक हो रही है। देश में वैसे ही आक्रोश का माहौल है। पेट्रोल, सीएनजी और सिलेंडर की कीमत से लेकर नर्सरी एडमिशन, कभी गैंगरेप, कभी पाकिस्तान तो कभी देश के महानुभावों और प्रतिष्ठित लोगों की बयानबाजी। बात-बात पर आम जन की जैसे परीक्षा ली जाती है कि सवा अरब का जनसमुदाय क्या-क्या और कितना सह सकता है। ऐसे में लोकतांत्रिक मुल्क की वो संख्या जिसे वोटर कहते हैं उससे और उसकी भावनाओं से जुड़े इस मसले को आए दिन कल और परसों पर क्यों टालते रहे। फैसला भी कोई ऐसा नहीं था कि इसे इतिहास के पन्नों में दर्ज कर कुलदीप शर्मा को पूर्व लोकसभा स्पीकर सोमनाथ चटर्जी के समकक्ष बैठा दिया जाए। राजनीति से ज्यादा भावनाओं पर विश्वास रखने वाले लोगों ने फैसला आने से पहले सोचा भी होगा या फैसला आने के बाद कुछ खांटी दल प्रेमियों ने दोनों को एक ही तराजू में तोल भी दिया होगा, लेकिन जो जैसा होता है उसके आदर्श वैसे ही होते हैं लेकिन आदर्श एक-दूसरे के विपरीत हों तो समझ में आ जाना चाहिए कि अनुयायी भी एक दूसरे के विपरीत ही हैं। किसी के आदर्श स्वामी विवेकानन्द हैं तो दाउद इब्राहिम को चाहने वाले भी मिल जाएंगे। हजकां विधायकों के दल-बदल मामले में जब सुप्रीम कोर्ट ने डेडलाइन दी तब जाकर उसके आखिरी दिन फैसला आया। तब भी कुलदीप शर्मा कहते रहे कि उन्होंने तय वक्त के अंदर यह फैसला सुनाया है। यहाँ तीन बातें ध्यान देने लायक हैं। पहली ये कि कुलदीप शर्मा ने 4 मार्च 2011 को स्पीकर का पद सम्हाला और 13 जनवरी 2013 को फैसला सुनाया। दूसरी, कुलदीप शर्मा कहते हैं कि इस विलय का फैसला पूर्व विधानसभा स्पीकर हरमोहिंदर सिंह चट्टा ने किया था। तीसरी, बकौल स्पीकर महोदय मामले में देरी के लिए वो लोग दोषी हैं जो इसे लेकर अदालत गये क्योंकि अदालतों में ही इस मामले को 15 महीने का वक्त लग गया। अगर वे ऐसा नहीं करते तो फैसला जल्दी आ जाता। सीधे-सीधे कुलदीप शर्मा मामले में स्पीकर पर भरोसा रखने और कोर्ट न जाने की बात पर बल देते हैं, लेकिन इन तीनों बातों से कई बातें सामने आती है। अगर पूर्व स्पीकर हरमोहिंदर सिंह चट्टा ने ही फैसला कर लिया था तो वही फैसला सुनाने में कुलदीप शर्मा को 9 महीने क्यों लग गये? अगर इंसाफ मांगने वालों का कोर्ट जाना कुलदीप शर्मा को पसन्द नहीं है तो कोर्ट का डंडा पड़ने के बाद भी आखिरी दिन फैसला क्यों किया? और फैसला भी ऐसा जिस पर पूरा विपक्ष कुलदीप शर्मा को आड़े हाथों ले रहा है। स्पीकर पद की गरिमा को भंग करने से लेकर, संविधान और कानून की खिलाफत तक के आरोप विपक्षी दल उन पर लगा रहे हैं। प्रदेश के सबसे बड़े विपक्षी दल के सुप्रीमो और हरियाणा के पूर्व मुख्यमंत्री ओमप्रकाश चौटाला चुटकी लेते हुए कहते हैं कि कुलदीप शर्मा ने स्पीकर पद की गरिमा तक का ध्यान नहीं रखा। (ये अलग बात है कि 12 साल पुराने जेबीटी भर्ती मामले में दिल्ली की एक अदालत ने ओमप्रकाश चौटाला को उनके विधायक पुत्र सहित 55 लोगों को दोषी करार देते हुए सजा भी सुना दी है।) वहीं अब सवाल उठ रहा है अपने दल के इकलौते सांसद कुलदीप बिश्नोई को हजकां सुप्रीमों के टाइटल से नवाजा जाए या नहीं क्योंकि बकौल कुलदीप शर्मा हजकां पार्टी का तो कांग्रेस में विलय हो गया है। ऐसे में सवाल उठता है कि हरियाणा विधानसभा में अपने दल का प्रतिनिधित्व करने वाली हजकां की इकलौती विधायक रेणुका बिश्नोई किस दल से सम्बन्ध रखती हैं और कुलदीप बिश्नोई लोकसभा में हिसार से सांसद तो हैं लेकिन किस दल से हैं? जब ये सवाल विधानसभा स्पीकर कुलदीप शर्मा से पूछा गया तो उन्होंने गेंद चुनाव आयोग के पाले में डाल दी। वैसे ये पूरा मुकाबला पिछले लगभग एक साल से कुलदीप बनाम कुलदीप का भी रहा। इस एकतरफा मुकाबले में कुलदीप शर्मा ने टॉस तो जीता, बैटिंग विकेट पर बल्लेबाजी का फैसला भी किया लेकिन न मैच जीत सके और न दिल। कुलदीप बिश्नोई के लिए मैच के दौरान बारिश आ गयी है तो फैसला अब डकवर्थ लुइस के हिसाब से पंजाब हरियाणा हाइकोर्ट करेगा। वैसे दल-बदल के इस मोर्चे पर कुलदीप शर्मा एक और मोर्चे पर पिछड़ते नजर आए। फैसला सुनाने के बाद पत्रकारों से बात करते हुए कुलदीप शर्मा स्पीकर नहीं बल्कि एक काँग्रेसी की हैसियत से बात कर रहे थे और विरोध के नशे में न जाने कुलदीप बिश्नोई को वो कह गये जो एक विधानसभा अध्यक्ष को शोभा नहीं देता। कहा जा सकता है कि फैसले पर चर्चा करने के अलावा स्पीकर महोदय सब कुछ बोले। बकौल कुलदीप शर्मा – कुलदीप बिश्नोई को राजनीतिक समझ नहीं है। वह एक हवाबाज और फुकरा है। कुलदीप शर्मा यहीं नहीं रूके, उन्होंने कुलदीप बिश्नोई के लालन-पालन पर भी सवाल खड़े कर दिये। साथ ही प्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री, पूर्व सांसद और कुलदीप बिश्नोई के पिता भजनलाल को भी नहीं बख्शा। जब मौके कुलदीप बिश्नोई को बल्लेबाजी को मिला तो वो जैसे शर्मा की हर गेंद पर छक्का लगाने के मूड में थे। बिश्नोई ने कहा कि 'मुझे कुलदीप शर्मा से राजनीतिक समझ सीखने की कोई जरुरत नहीं। मैं 4 बार चुनाव लड़ा, सभी में जीत दर्ज की। जिसमें एक बार लोकसभा चुनाव भी रहा। कुलदीप शर्मा 5 बार चुनाव लड़े हैं और इस बार गलती से जीते हैं। दो बार तो जमानत जब्त हो चुकी है और भविष्य में कभी विधानसभा का मुँह नहीं देखेंगे।' बिश्नोई ने कहा- 'सोमनाथ चटर्जी ने लोकसभा स्पीकर रहते जो उदाहरण पेश किया, उसके बिल्कुल विपरीत कुलदीप शर्मा ने स्पीकर पद की गरिमा को तार-तार कर दिया। शर्मा ने अपने विधानसभा के वोटरों का भी सिर शर्म से झुकाया है। अब शायद वो विधानसभा का मुँह कभी न देख पाएं। भाजपा-हजकां का गठबंधन एक विकल्प बनकर उभर रहा है जिसे वो पचा नहीं पा रहे हैं।'

❑

ØeHkx

पनीले विचार युग में आशिस नन्दी का भाग्य

अपूर्वानन्द

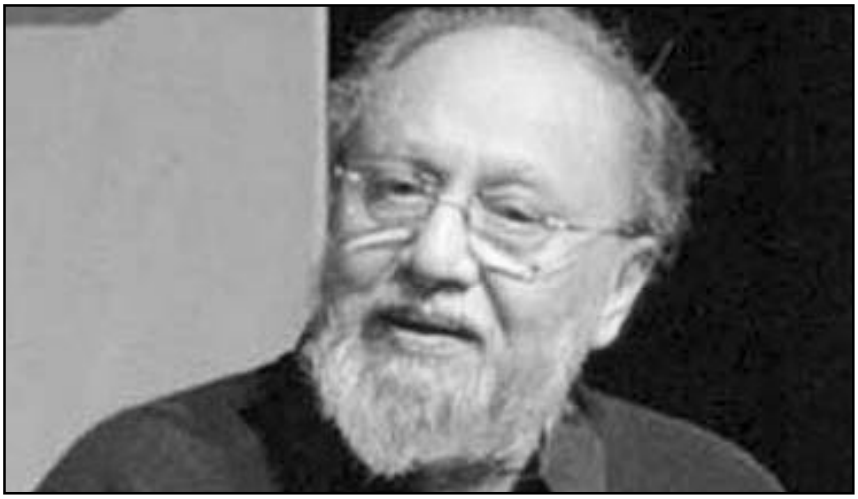

आशिस विडम्बनापूर्ण भाषा में उस आम सहमति पर सन्देह कर रहे हैं जो अति वाम से लेकर अति-दक्षिण में भ्रष्टाचार विरोधी भारत की कल्पना पर कायम हुई है। साधारण शब्दों में वे सर्वशक्तिमान लोकपाल शासित भारत की कल्पना को अस्वीकार कर रहे हैं। आशिस नन्दी की तर्क-प्रणाली, उनकी वैचारिक संरचना और शैली से अपरिचित लोगों का पहली बार भौचक्का रह जाना स्वाभाविक है।

लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं।
apoorvanand@kafila.org
+9111-27662146

आशिस नन्दी के खिलाफ देश के अलग-अलग राज्यों में दायर एफ.आई.आर. को खारिज करने की उनकी याचिका उच्चतम न्यायालय में है। आशिस के विरुद्ध आरोप है कि उन्होंने जयपुर साहित्य उत्सव के अवसर पर आयोजित एक परिचर्चा में यह बयान दिया कि यह तथ्य है कि सबसे अधिक भ्रष्ट लोग पिछड़ी जाति, अनुसूचित जाति और जनजाति समूहों के हैं। इस बयान को जातिगत पूर्वग्रह से ग्रस्त तो बताया ही गया, यह भी कहा गया कि यह दरअसल जातिवादी घृणा प्रचार है। एफ.आई.आर. अनुसूचित जाति और जनजाति उत्पीड़न कानून से जुड़ी धाराओं के तहत दायर की गयी। आशिस के गिरफ्तार होने का वास्तविक खतरा है। इसलिए उच्चतम न्यायालय का विवेकपूर्ण हस्तक्षेप इस समय भी उतना ही जरूरी है जितना तब था जब उसने गुजरात में 2007 में लिखे एक लेख के आधार पर उन पर दायर देशद्रोह के मुकदमे को खारिज करते हुए किया था। जब तक यह टिप्पणी प्रकाशित होगी, उम्मीद करनी चाहिए कि इस पूरे प्रसंग के इस अप्रिय पक्ष का पटाक्षेप हो चुका होगा।

आशिस के 'बयान' पर आया उबाल जब बैठ चुका हो तभी शायद इसका पूरा अभिप्राय भी स्पष्ट हो पाएगा। इन पंक्तियों के लिखे जाते समय तक वह पूरी चर्चा प्रकाशित हो चुकी है जिसमें भाग लेते हुए आशिस ने एक विचार प्रकट किया, उपर्युक्त वाक्यांश जिसका खंडांश था। चर्चा भारत जैसे देश में समता, परिवर्तनीयता की सम्भावना और इस देश के भविष्य की कल्पना पर चल रही थी। आशिस ने कहा कि उनकी जानकारी में सिंगापुर ऐसा देश है जो लगभग भ्रष्टाचार मुक्त है। लेकिन वह उनकी कल्पना का देश नहीं है। उन्होंने कहा कि मैं तो चाहता हूँ कि कुछ अंश में भ्रष्टाचार भारत में रहे क्योंकि वह हमारे समाज को थोड़ा मानवीय बनाता है।

आशिस ने इसके बाद एक प्राक्कल्पना प्रस्तुत की। उनके मुताबिक सिर्फ दृश्यात्मक खेलों, मनोरंजन उद्योग, अपराध और राजनीति में वास्तविक प्रतिभाएँ जगह बना पाती हैं। यह जाति, धर्म, सम्प्रदाय से परे है। इस वैचारिक प्रस्ताव का विस्तार करते हुए उन्होंने कहा कि

पिछड़े और दलित जाति समुदायों के नेताओं के भ्रष्टाचार को समझने के लिए यह समझना होगा कि उनमें अपनी स्थिति को लेकर खासी असुरक्षा और तनाव रहता होगा। उनके पास अपने रिश्तेदारों के अलावा कोई और भरोसेमन्द भी नहीं क्योंकि इसके अलावा अभी उनका अपना कोई सामाजिक तन्त्र अभी विकसित नहीं हो पाया है। वे अभी राजनीति में नये हैं। और उनकी पूर्वसामाजिक स्थिति के कारण उनमें यह क्षमता नहीं वे उसे चतुराई से पचा लें जो उन्होंने एकत्र किया है। फिर उन्होंने अपनी बात समझाते हुए कहा कि अगर मैं रिचर्ड सोराबजी द्धचर्चा में उपस्थित एक दूसरे विद्वानऋ के लिए कुछ करता हूँ तो वे उसके बदले मेरे भतीजे को ऑक्सफोर्ड में ले सकते हैं। यह एक बड़ा 'फेवर' है। लेकिन सुश्री मायावती को यह सुविधा नहीं। सम्भवत: उनके रिश्तेदार ऐसे हों जिनकी महत्वाकांक्षा सिर्फ नर्स बनने की या पेट्रोल पम्प चलाने की हो। इसलिए अगर उन्हें किसी के साथ पक्षपात करना हो या उनके परिवार में कोई धन लेने को तैयार हो तो शायद उन्हें सौ पेट्रोल पम्प की घूस लेनी होगी। और यह बहुत साफ-साफ नजर आएगा, सचमुच काफी भ्रष्ट लगेगा। हमारा भ्रष्टाचार वैसा नहीं लगता है, उनका एकदम से दिखाई पड़ता है।

आशिस के इस वैचारिक प्रस्ताव पर तरुण तेजपाल ने टिप्पणी की और फिर उसे आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा कि वे अब कुछ ऐसा कहेंगे जिससे सदमा पहुँचेगा और वह अत्यन्त असभ्य और भोंडी बात होगी, लेकिन यह तथ्य है कि सबसे भ्रष्ट लोग पिछड़ी, अनुसूचित जातियों और जनजातियों से जुड़े हैं, और जब तक ऐसा है, भारतीय गणतन्त्र जीवित रहेगा। फिर उन्होंने बंगाल का उदाहरण दिया जहाँ सबसे कम भ्रष्टाचार है, वह सबसे अधिक साफ-सुथरा प्रदेश माना जाता है। आगे उन्होंने कहा कि मैं यह विचार प्रस्तावित कर रहा हूँ कि यह वह राज्य है जहाँ गत सौ वर्षों में उपर्युक्त जाति समुदायों से कोई भी सत्ता के करीब भी नहीं पहुँच पाया है।

अशीष की भाषा ज्यों की त्यों ऊपर उद्धृत नहीं है। फिर यह भी ध्यान रहे कि वे लिख नहीं बोल रहे थे और वह भी एक परिचर्चा में, यानी यह एक तरह का एक सामूहिक मुखर चिन्तन था, या उधेड़बुन। इसे पूरी तरह समझने के लिए उस चर्चा के पूरे दृश्यात्मक वातावरण को पुनर्जीवित करना आवश्यक होगा, जिसमें वक्ताओं के हस्तक्षेप के कारण भी विचारक्रम के घुमाव को समझा जा सके। लेकिन हम उसके बिना भी देख सकते हैं कि आशिस एक विचार गढ़ने की कोशिश कर रहे हैं जो लोकप्रिय मुहावरे से भिन्न है। उनके हस्तक्षेप में शायद, सम्भवत: की बारम्बारता है और वे कहते हैं कि वे विचार का एक 'मॉडल' प्रस्तावित कर रहे हैं, जिसमें आज के अनुभवों को रख कर उनका आशय समझने का प्रयास किया जा सकता है। एक प्रकार से आशिस जो कर रहे थे वह, विचार नहीं, प्राकविचार था। इस प्रस्ताव को समझने के लिए भी आवश्यक है कि आशिस नन्दी की विचार-भाषा के मुहावरे से पूर्वपरिचय हो। जो इससे परिचित हैं उन्हें मालूम है कि आशिस 'तथ्य' को वह सम्मान नहीं देते, जो 'वैज्ञानिक चिन्तन' में उसे प्राप्त है। इसलिए बातचीत के क्रम में वे जब तथ्य शब्द का इस्तेमाल करते हैं तो अपनी दार्शनिक अवधारणात्मक ढाँचे के भीतर ही। उसके पहले वे कह चुके हैं कि मधु कोड़ा हों या मायावती, उनके सन्दर्भ में भ्रष्टाचार सचमुच होता दीखता है जब कि सहस्राब्दियों से प्रभुत्वशाली वर्ग जो करते हैं, उसे इस श्रेणी में रखने के लिए आपको न सिर्फ इसका दायरा बढ़ाना होगा, बल्कि इसकी परिभाषा ही बदल देनी होगी। यह उन्होंने आशिस नन्दी और रिचर्ड नामक दो हमपेशा लोगों के अत्यन्त सामान्य और स्वाभाविक आदान-प्रदान के उदाहरण से समझाया जिसे भ्रष्टाचार के तथ्य के रूप में स्थापित करना लगभग असम्भव होगा।

मार्क्सवादी आशिस के इस तर्क को आगे बढाते हुए कह सकते थे कि पूँजीवाद सबसे बड़ा भ्रष्टाचार है। गाँधी ने काफी पहले मुनाफे को स्वाभाविक आर्थिक विचार माने से इनकार करते हुए उसे 'चोरी' कहा था। इस तरह एक आर्थिक क्रिया को नैतिक पदावली में रख कर देखने का एक अवसर आशिस के तर्क में मौजूद था। दूसरे, बराबरी लाने के लिए खेल, मनोरंजन, अपराध और राजनीति के क्षेत्रों को अभी सबसे मुफीद बताने के तर्क की नवीनता को तब समझा जा सकेगा जब हम यह समझ पाएँ कि आशिस यह कह रहे हैं कि वास्तविक उत्पादन के साधनों पर वंचित समुदायों के नियंत्रण प्राप्त करने में पूँजीवाद ने जो बाधाएँ खड़ी की हैं, जिन्हें तोड़ने में कम्युनिस्ट पार्टियां सफल नहीं हो पा रही हैं, उन बाधाओं को 'बाईपास' करके यह वर्ग समानता के सांस्कृतिक मुहावरे गढ़ रहा है। टाटा हों या अम्बानी, उन्हें मायावती को बराबर ही नहीं बैठाना होगा, बल्कि वे ही उनके अनुग्रह के याचक होंगे। यह राजनीति में मायावती के प्रभुत्व के कारण सम्भव हुआ। अगर समानता का यह कर्म जारी रहना है तो मायावती हों या लालू यादव या मधु कोड़ा, उनका राजनीति में बने रहना आवश्यक होगा। यह भ्रष्टाचार-मुक्त भारत के अभियानों की समझ के बाहर है क्योंकि उनके निशाने पर सबसे पहले ये ही हैं, प्रत्यक्ष सबूतों के कारण। आशिस इसीलिए भ्रष्टाचार को, जैसा वह इन आन्दोलनों की समझ में आता है, बने रहने देने की बात करते हैं, क्योंकि उन्हें यह पता है कि यह इन आन्दोलनों के बस की बात नहीं कि वे 'अतथ्य' या अदृश्य भ्रष्टाचार को समाप्त कर पाएँ जिसके बल पर हमारे समाज का सारा व्यापार स्वाभाविक मालूम पड़ता है और जिसे बनाए रखने के लिए राज्य और विधि तन्त्र सतत सक्रिय रहता है।

आशिस नन्दी की आलोचना यह कह कर की गयी कि वे आकड़ों और सबूतों के सहारे साबित करें कि अब तक के वंचित जाति-समूह सबसे भ्रष्ट हैं। लेकिन उनकी पूरी बात के सन्दर्भ में यह बात ही बेमानी है। वे तो यह तर्क प्रस्तुत कर रहे हैं कि जो समाज आर्थिक और सांस्कृतिक पूँजी इकठा करने के प्रचलित तरीकों को स्वीकार कर लेता है, उसकी भाषा में चलाए जाने वाले भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान के नतीजे में मौजूदा गैरबराबरी और गहरी ही होगी। उसका यह पाखंड कि वह पूँजीवादी प्रतियोगिता और ब्राह्मणीय प्रतिभा के अतथ्य या अदृश्य भ्रष्टाचार को बने रहने दे और भ्रष्टाचार मुक्त भारत के स्वप्न देखे, आशिस को स्वीकार नहीं।

आशिस के तर्क को मैं ग्राम्शी और पियरे बोर्द्यु के कारण भी समझ पा रहा हूँ। अभिवंचित वर्ग आधारभूत परिवर्तन की अन्तहीन प्रतीक्षा करके पवित्र समानता की मृगमरीचिका का

पीछा करते हुए प्यासे मर जाएँ या पूँजीवादी नैतिकता और उसके पहले सामन्ती मर्यादा को धता बताते हुए इस व्यवस्था की छिद्रहीनता को ध्वस्त करें! गत दो वर्षों के शुचितावादी भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान के नेताओं से निश्चय ही आशिस सहमत नहीं हैं। वे जो नहीं कह रहे हैं, वह यह भी है और यह सम्भवत: इन अभिवंचित श्रेणियों को सम्बोधित है कि सौ पेट्रोल पम्प या कुछ सौ करोड़ रुपए के वास्तविक पूँजी में बदल पाने की क्षमता के बिना यह भ्रष्टाचार ही लगेगा और अनैतिक भी। तो आशिस विडम्बनापूर्ण भाषा में उस आम सहमति पर सन्देह कर रहे हैं जो अति वाम से लेकर अति-दक्षिण में भ्रष्टाचार विरोधी भारत की कल्पना पर कायम हुई है। साधारण शब्दों में वे सर्वशक्तिमान लोकपाल शासित भारत की कल्पना को अस्वीकार कर रहे हैं।

आशिस नन्दी की तर्क-प्रणाली, उनकी वैचारिक संरचना और शैली से अपरिचित लोगों का पहली बार भौचक्का रह जाना स्वाभाविक है। उनके लिए भी जिन्होंने अपने लिए, मुक्तिबोध के शब्दों में एक यन्त्रबद्ध विचार-गति को अपना रखा है। 'मुझे नहीं मालूम' नामक कविता की पंक्तियाँ हैं, ''मेरे ये सहचर/धरिणी, ग्रह-पिंड,/रखते हैं गुरुत्व-आकर्षण-शक्ति, पर/यंत्रबद्ध गतियों को त्यागकर/जरा घूम घाम आते, जरा भटक जाते तो/ कुछ न सही, कुछ न सही/गलतियों के नक्शे तो बनते/बन जाता भूलों का ग्राफ ही,/विदित तो होता कि/कहाँ-कहाँ कैसे-कैसे खतरे/अपाहिज पूर्णताएँ टूटतीं।'

सच कहूँ तो विवाद के पहले दिन मुझे भी यही लगा कि आशिस नन्दी ने जल्दबाजी में एक ऐसी बात कह दी है जो तथ्य समर्थित नहीं है। पूरी बहस को पढ़ने पर मुझे आशिस के तर्क की जटिलता का अन्दाज हुआ। वे जो मॉडल प्रस्तावित करते आ रहे हैं, उसमें पूँजीवादी नैतिकतावादी तर्क को पूरी तरह से अस्वीकार कर दिया गया है। आशिस के इस तर्क को मानें तो नरेन्द्र मोदी और नीतीश कुमार के कुशल, सुशासन के झूठ को पकड़ा जा सकता है और 'फासिस्ट शुचितावाद' के खतरे को भी समझा जा सकता है। याद रहे कि ये ही आशिस नन्दी हैं जिन्होंने 2002 के मुस्लिम -संहार के दस साल पहले नरेन्द्र मोदी से बात करके यह कहा था कि उनमें वे एक 'टेक्स्टबुक

फासिस्ट' को देख पा रहे हैं।

अनिर्बाण गुप्ता निगम ने इस प्रसंग में काफिला नामक ब्लॉग पर प्रकाशित अपने लेख में आशिस नन्दी पर चौतरफा आक्रमण को आधुनिक टेकनौलौजी की व्यग्र गति के आगे विचार-शक्ति के समर्पण का परिणाम बताया है। विचार के लिए आवश्यक है स्थगन और विलम्ब। टेलिविजन कैमरा समय व्यर्थ करने को तैयार नहीं। उसी तरह यन्त्रबद्ध गति में गिरफ्तार मस्तिष्क उसकी सुरक्षा छोड़ने को राजी नहीं। उससे उन्हें सरल-अर्थ की फौरन प्राप्ति होती है। अर्थ तो मिल जाता है, समीकरण सिद्ध हो जाते हैं, पर जीवन की गति पकड़ के बाहर बना रहती है। अनिर्बाण विचार-व्यग्रता के आगे धीमी गति से विचार की फौरी आवश्यकता पर बल देते हैं। अन्य टिप्पणीकारों ने सामाजिक विचार-विमर्श के लोक से विडम्बना के तत्त्व के लोप पर अफसोस जाहिर किया है। लेकिन विडम्बनापूर्ण ढंग से सोचना एक साहित्यिक तरीका है। और साहित्य जो फैसला करने से अधिक समझने पर बल देता है। लेकिन न्याय की धीमी गति असन्तुष्ट समुदाय, जो अफजल गुरु को फौरन फांसी देना चाहता है, जो कसाब को लम्बे इन्तजार के बाद फाँसी दिए जाने से क्षुब्ध है, वह फैसले का अपना हक समझ की बलिवेदी पर कैसे कुर्बान कर दे?

टेलिविजन और 'सोशल मीडिया' विचार-व्यग्रता के शिकार हैं और उनके चपेटे में बौद्धिक जगत भी आने लगा है जो अब कक्षाओं, पत्रिकाओं और अदृश्य पाठकों से मिलने वाली प्रशंसा की प्रतीक्षा करने को तैयार नहीं। वह अपने विचार को सरल करने को तैयार है जिससे उसकी रसाई दूर-दूर तक हो सके। नागार्जुन ने कभी भाषा के पनीलेपन की शिकायत की थी और लेखक के लिए उसे दोष बताया था। अब हम विचार के पनीलेपन की प्रक्रिया में खुद शामिल हैं। जाहिर है, इसका दण्ड उसे भुगतना होगा जो संश्लिष्टता और जटिलता का त्याग करने को राजी नहीं। जब पूरा देश भ्रष्टाचार विरोधी भाषा में बात कर रहा हो, उस समय आशिस का मानवीय भ्रष्टाचार का प्रस्ताव फारसी मालूम हो तो क्या हैरानी! लेकिन एक विचारक के रूप में आशिस का दायित्व है हमें मानसिक आलस्य की जड़ता से जगाना। क्या जागरण होगा? या जैसा मुक्तिबोध कहते हैं, हम खतरा नहीं उठाएँगे, ऐसा करने को उकसाने के जुर्म में भले ही आशिस को सजा हो जाए क्योंकि, ''हमें तो डर है कि/खतरा उठाया तो/मानसिक यंत्र-सी बनी हुई आत्मा/ आदतन बने हुए अद्यतन भाव-चित्र,/विचार-चरित्र ही,/टूट-फूट जाएँगे/फ्रेमें सब टूटेंगी व टंटा होगा निज से।'' आगे मुक्तिबोध कहते हैं, ''इसीलिए, सत्य हमारे हैं सतही...'' सतही सत्यों के सहारे इत्मीनान से जीते या सोते समाज की नींद में खलल डालने वाले को सजा क्यों न हो आखिर?

❑

प्रासंगिकता का प्रश्न और प्रेमचन्द

enrk

शैलेन्द्र कुमार त्रिपाठी

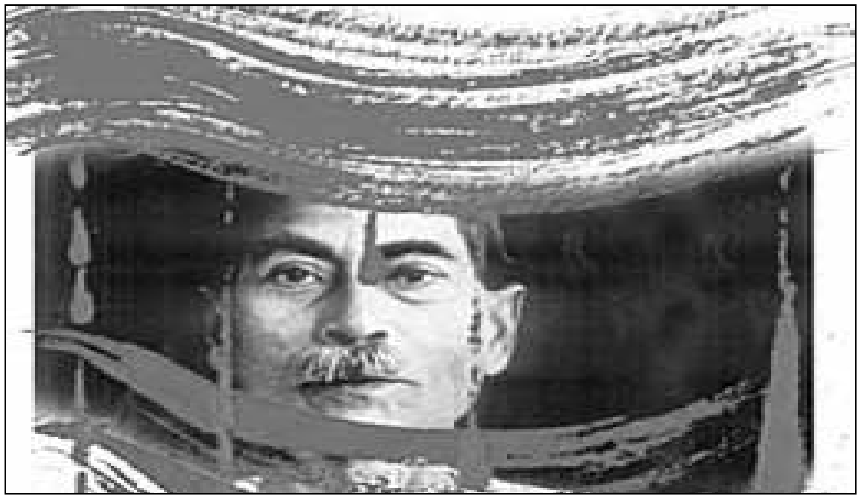

गति संघर्ष बेचैनी और सामाजिक सक्रियता को प्रेमचन्द साहित्य का लक्षण मानते हैं। एक जीवन्त समाज की कामना करते हैं प्रेमचन्द, शायद इसीलिए वह शिक्षा पर जोर देते हैं पर ऐसी शिक्षा जो समाज को जगाए। शिक्षा इसलिए कि उससे समाज को सोचने विचारने आगे बढ़ने का अवसर मिले।

लेखक हिन्दीभवन, विश्वभारती में प्राध्यापक हैं।
shailendrakumartripathi692@gmail.com
+919832976060

प्रेमचन्द पर आयोजित एक समारोह में निमन्त्रण पाने के बाद स्वीकृति देकर सोचने लगा गत तीन दशकों से प्रेमचन्द के बारे में लिख पढ़ रहा हूँ। अगर आनर्स, पोस्ट ग्रेजुएशन, रिसर्च की अविध भी जोड़ दी जाए तो आठ साल और हो जाए। इन बीतें तीन दशकों में (अधिक ही) प्रेमचन्द को कितना जान पाया! गोदान, गबन, प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, सेवासदन, निर्मला, रंगभूमि, संग्राम, कुछ कहानियाँ कुछ निबन्ध, कुछ सम्पादकीय आदि।

फिर सोचने लगा पर्याप्त तो है, आखिर एक लेखक को कितना पढ़ा जाए और कब तक पढ़ा जाए। प्रगतिशील आन्दोलन और उसमें प्रेमचन्द की भूमिका को लोग जानते हैं। एक जुमला बार-बार याद किया जाता है कि साहित्य राजनीति के आगे...मशाल है। राजनीति अगर धृतराष्ट्र है तो उसे कौन सी राह दिखाएगी। कम दिखाने वाले थे, न्यायप्रिय नीतिवान उदार विदुर, धर्मव्रती भीष्म और द्रोण जैसे लोग तो दरबार में ही थे।

लेकिन यहीं पर जब एक लेखक अपनी पत्नी से यह कहता है कि–'दिया होता है उसका काम है रोशनी करना, सो वह करता है। उससे किसी का लाभ होता है या हानि, इससे उसको कोई बहस नहीं। उसमें जब तक तेल और बत्ती रहेगी, तब तक वह अपना काम करता रहेगा। जब तेल खत्म हो जाएगा, तब वह ठण्डा हो जाएगा।' 'प्रेमचन्द घर में' इस तरह की बात कर सकते थे और शिवरानी देवी इसे सुन सकती थी।

प्रेमचन्द आज भी प्रासंगिक क्यों बने हैं? पितामह पण्डित विश्वनाथ त्रिपाठी कहते थे, जानते हो। बहुत सीधा आदमी था वह (प्रेमचन्द) पर था बहुत ही महीन। महीन कहने से पितामह का आशय था कि प्रेमचन्द यह जानते थे कि कौन क्या चाहता है। यह जानना अतिरिक्त नहीं है जीवन को जानने की तरह है। एक लेखक के तौर पर वह अपने पाठक के लिए कुछ जिम्मेदारी महसूस करते थे। प्रेमचन्द की यह जिम्मेदारी दोहरी थी क्योंकि एक तरफ जहाँ वह यह कहते थे कि पाठक सब कुछ क्षमा कर सकता है, लेखक में बनावट या दिखावा या प्रशंसा की लालसा को क्षमा नहीं कर सकता। इसलिए एक

लेखक का अपना काम कुछ अधिक ही होता है। एक बार उसे ईदगाह का हामिद बनना पड़ता है तो दूसरी ओर बूढ़ी काकी और इन दोनों (या अनेक रूपों की) को सहज भाव से जस्टिफाई करना पड़ता है। लेखक समाज का विशिष्ट व्यक्तित्व होता है और उसके द्वारा लिखा गया साहित्य या साहित्य का उद्देश्य 'यों' कहिए कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित हैं, पीड़ित हैं, वंचित हैं, चाहे वह व्यक्ति हो या समूह उसकी हिमायत करना और वकालत करना उसका फ़र्ज। है। 'मन्त्र' कहानी का बूढ़ा भगत अनायास मेरे सामने खड़ा हो जाता है। अपनी सामाजिक पृष्ठभूमि और शिक्षा के स्तर पर वह चड्ढा से क्या मुकाबला करेगा। चड्ढा भद्र समाज के प्रतिनिधि मात्र नहीं हैं उनका पेशा भी भद्रतम है पर उनकी सोच! अध्ययन करते हुए एक युग बीत गया अब तो अध्यापन के भी दो दशक बीतने को हैं पर मन्त्र कहानी का बूढ़ा भगत क्यों बार-बार एक सवाल करता है पाठक से, ये चड्ढा लोग कब तक बदल पाएँगे। प्रेमचन्द की यह कहानी कमजोर कहानी हो मजबूत हो या जैसी भी हो साहित्य के निहितार्थ को स्पष्ट करने वाली कहानी है।

ईदगाह का हामिद अपनी उम्र से कुछ बड़ा दिखने लगता है पाठक को, यह प्रेमचन्द की खूबी है। 'बूढ़ी काकी' के मनोविज्ञान को भी एक बच्ची ही सम्भालती है। कहानी में कितनी किस्सागोई और कितना विचार रहना चाहिए यह प्रेमचन्द से बेहतर उस जमाने में कौन जानता था? 'गोदान' में धनिया के चरित्र को गढ़ते हुए उपन्यासकार ने संयुक्त परिवार में झाँक-झाँक कर देखा था तभी तो धनिया के श्रम का कोई मूल्य नहीं है क्योंकि वह घर में काम करती है। घर के भीतर के श्रम का मूल्य कहाँ है आज भी! संयुक्त परिवारों में जो लोग बाहर हैं जिनकी पत्नियाँ बाहर उनके साथ है वह जब घर आते हैं तो अतिथि की तरह। अपने घर में भी वह मेहमान की तरह रहना चाहते हैं। वह नहीं तो उनकी पत्नियाँ, क्योंकि उनके पति कमासुत हैं। यहाँ 'गोदान' में शोभा और हीरा की पत्नियाँ खेतों में काम करती हैं अत: उनके श्रम का मूल्य है। लेकिन धनिया घर में काम करती है। इसलिए उसके श्रम का मूल्य नहीं है। ठीक इसी तरह होरी यह तो किसान हैं और किसान का श्रम भी कुछ इसी तरह का है उसका कोई मूल्य नहीं, देश के विभिन्न भागों में आज भी किसान आत्महत्या कर रहे हैं। बावजूद इसके प्रेमचन्द और उनकी अपनी सोच में किसानी इस देश की आत्मा को प्रतिबिम्बित करती है। सम्भवत: कर्मभूमि में वह कहते भी हैं कि कृषि प्रधान देश में खेती केवल जीविका का साधन नहीं है सम्मान की वस्तु भी है। गृहस्थ कहलाना गर्व की बात है। किसान गृहस्थी में अपना सर्वस्व खोकर विदेश जाता है, वहाँ से धन कमाकर लाता है और फिर गृहस्थी करता है। गाँधी को अपने समय में नैतिक संघर्ष करते देखने वाले लोगों का मानना है कि मैथिलीशरण गुप्त से लेकर स्वाधीनता सेनानी पण्डित विश्वनाथ त्रिपाठी तक उस समय अपनी लेखनी से कृषक गाथा ही मूर्त्त कर रहे थे। विश्वनाथ त्रिपाठी ने तो यहाँ तक लिखा–''संसार का पिता है जो भारत की शान है/हम तो यही कहेंगे विधाता किसान है।' लेकिन उस विधाता किसान की दुर्दशा भी यहाँ उसके अपने लोगों द्वारा हो रही थी।–गबन उपन्यास का देवी दीन जब यह कहता है–'साहब, सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो, उसका कौन-सा रूप तुम्हारी आँखों के सामने आता है? तुम भी बड़ी-बड़ी तलब लोगे, तुम भी अंग्रेजों की तरह बंगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेजी ठाट बनाए घूमोगे; इस सुराज से देश तो कोई भला न होगा।...तुम दिन में पाँच बेर खाना चाहते हो, और वह भी बढ़िया माल; गरीब किसान को एक जून सूखा चबेना भी नहीं मिलता। उसी का रक्त चूसकर तो सरकार तुम्हें हुद्दे देती है। तुम्हारा ध्यान कभी उनकी ओर जाता है? अभी तुम्हारा राज नहीं है, तब तो तुम भोग विलास पर इतना मरते हो, जब तुम्हारा राज हो जाएगा, तब तो तुम गरीबों को पीसकर ही पी जाओगे।' (गबन से 134 पृ.)

मुझे नहीं लगता कि यह एक उपन्यास की भविष्यवाणी है या वह देख रहा था कि जो दिख रहा है उसमें बेहतरी नहीं बदतरी ही आने वाली है। अन्ना हजारे और अरविन्द केजरीवाल, किरण बेदी आज 'राइट टू रिकाल' के लिए आवाज उठा रहे हैं। प्रेमचन्द उसी समय उठा रहे थे जब देश पराधीन था। स्वार्थ के लिए राजनीतिक पार्टियाँ किसी भी हद तक गिर सकती है। उसमें पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, वाम, दाम का कोई भेद नहीं है। 'प्रेमाश्रम' में जब वह कहते हैं कि–'यह बड़ी भूल है कि मेम्बरों को एक निर्दिष्ट साल के लिए रखा जाता है। वोटरों को अधिकार होना चाहिए कि जब किसी सदस्य को जी चुराते देखें तो उसे पदच्युत कर दें। 'तो उन्हें यह पता था कि आगे क्या होने वाला है। प्रभुता सम्पन्न शासक वोट माँगने वाले प्रतिनिधि या सेवक की भूमिका में नहीं स्वामी या सामन्त की भूमिका में आ जाते हैं तथा वोट के लिए जिस दरवाजे पर कभी विनीत भाव से गये थे उस दरवाजे को दयनीय भाव से अपने चरणों में देखना चाहते हैं। आज भी जब 'कर्मभूमि' की इन पंक्तियों पर दृष्टि पड़ती है तो आश्चर्य होता है–'पढ़े लिखे आदमियों ने गरीबों को दबाए रखने के लिए एक संगठन बना लिया है। उसी का नाम गवर्नमेण्ट है।' समय के साथ मामूली संशोधन किया जा सकता है। पढ़े लिखे आदमियों की जगह पर अवसरवादियों या धूर्तों को स्थापित किया जा सकता है। किसी भी दशा में दबाए जाएँगे गरीब ही, और वे गरीब जातिहीन होंगे उनका अपना वर्ग होगा। उनमें एस.सी., एस. टी, ओ.बी.सी., जनरल जैसा कुछ नहीं होगा। ये केवल गरीब होंगे। प्रेमचन्द गरीबों के लिए और स्त्रियों के लिए बराबर चिन्तित रहे। जीवन में और लेखन में भी; गोदान में यह कहते हुए कि 'कानून और न्याय उसका है जिसके पास पैसा है' दूसरी तरफ यह कहना भी नहीं भूलते–'बस इतना समझ लो कि सुख में आदमी का धरम कुछ और होता है, दुख में कुछ और। सुख में आदमी दान देता है, मगर दुख में भीख तक माँगता है। उस समय आदमी का यही धरम हो जाता है।...आपत्काल में श्री राम चन्द्र ने सेवरी के जूठे फल खाए थे, बाली का छिपकर वध किया था। जब संकट में बड़े-बड़े की मर्यादा टूट जाती है, तो हमारी तुम्हारी कौन बात है।'

कभी-कभी यह लगता है कि कहानी कहते समय प्रेमचन्द अपने पात्रों में इस तरह से रच-बस जाते हैं कि पाठक को बोध पहले

होता है, आस्वाद बाद में मिलता है। साहित्य का मतलब वह मनोरंजन नहीं मानते। वह तो यह जानते हैं–'हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।'

गति संघर्ष बेचैनी और सामाजिक सक्रियता को प्रेमचन्द साहित्य का लक्षण मानते हैं। एक जीवन्त समाज की कामना करते हैं प्रेमचन्द, शायद इसीलिए वह शिक्षा पर जोर देते हैं पर ऐसी शिक्षा जो समाज को जगाए। शिक्षा इसलिए कि उससे समाज को सोचने विचारने आगे बढ़ने का अवसर मिले। उपन्यास 'कायाकल्प' में एक जगह एक पात्र कहता है–'वह जमाना लद गया, जब विद्वानों की कद्र थी, अब तो विद्वान टके सेर मिलते हैं, कोई बात नहीं पूछता। जैसे और भी चीजें बनाने के कारखाने खुल गये हैं, उसी तरह विद्वानों के कारखाने हैं, और उनकी संख्या हर साल बढ़ती जाती है। यह बात शायद आज और भी सच होकर सामने आती है। विद्वानों की खेप बढ़ती जा रही है। वह शिक्षा के विभिन्न अनुशासनों की बात है आज डिग्रीधारियों की संख्या दिन-प्रति दिन बढ़ती जा रही है और रोजगार के अवसर घट रहे हैं। इतना ही नहीं अब हमारे यहाँ विदेशी व्यापार को निमन्त्रण भी दिया जा रहा है। बताया यह जा रहा है कि हमारे यहाँ लोकतन्त्र की जड़ें इतनी मजबूत हैं कि उससे कुछ नहीं होगा। सोवियत संघ जैसा अनुशासन पसन्द देश विदेशी व्यापार को निमन्त्रण देकर किस अधोगति को पहुँचा है यह बतलाने की आवश्यकता नहीं।

प्रेमचन्द ने कभी साहित्य को आज की तरह प्रायोजित भाव से देखा होता कि इतना पैग पी लेने के बाद मूड बनता है लिखने का; तो कदाचित् वह साहित्य के क्षेत्र में नहीं आये होते। आज जिस तरह से 'टेक्स्ट' की व्याख्या की जाती है वह भी हैरान करने वाली होती है। 'साहित्य का उद्देश्य' लिखते समय यह बात प्रेमचन्द के दिमाग में रही होगी शायद इसीलिए वह लिखते हैं–''शायद हम समझते हैं कि मजेदार, चटपटी और ओजपूर्ण भाषा लिखना ही साहित्य है। भाषा भी साहित्य का एक अंग है; पर साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानव चरित्र की कलिकाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएँ दिखाता है। मकान गिराने वाला इंजीनियर नहीं कहलाता। इंजीनियार तो निर्माण ही करता है''

यह कहने से इतना पता तो चलता ही है कि प्रेमचन्द के दिमाग में एक खाक़ा बना हुआ है साहित्य और साहित्यकार के बारे में। साहित्य कला, संयम और संकेत में है। मनोरंजन का सामान जुटाना और महफिल सजाना साहित्यकार का काम नहीं है। पाठकों का मन बहलाना भी साहित्यकार का काम नहीं है। साहित्य का काम है हमारे 'मनुष्यत्व' को जगाए। हमारी सद्वृत्ति और सद्विचार को गति देते हुए विस्तार करे। अगर ऐसा नहीं होगा तो गली-गली साहित्यकार और महात्मा लोग दिखने लगेंगे। निश्चित तौर पर एक सजग सकाम सतर्क दृष्टि प्रेमचन्द के पास थी। साहित्य को विलास की कोटि में वह नहीं रखना चाहते थे अत: 'काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमता' पर उनकी सहमति उस तरह से नहीं थी जिस तरह तरह से आज किसी कुप्रवृत्ति को जिलाये रखने के लिए हम शास्त्रीय उद्धरण सामने रख लेते हैं। और जब उद्धरण से काम चल जाता है तो उसे कर्मकाण्ड या शास्त्रीय रूढ़ि कह कर पल्ला झाड़ लेते हैं। प्रेमचन्द तो बाकायदा साहित्यकार और साहित्य के लिए एक (कोड ऑफ कंडक्ट) आचरण संहिता बनाने के पक्षधर हैं। लिखते हैं–'अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे। वाल्मिकी और व्यास दोनों तपस्वी थे। सूर और तुलसी भी विलासिता के उपासक न थे। कबीर तपस्वी ही थे।' लेकिन इस वृत्ति को वह दो तरफा मानते थे जिस समाज के लोग इस तरह का साहित्य चाहते हैं उनका भी कुछ न्यूनतम दायित्व बनता है या कि आप चाहते हैं सब स्वर्गोपम और आपकी रुचियाँ, आपकी स्वयं की मनोवृत्ति पतित है। पराधीन भारत में लिख रहे थे प्रेमचन्द! तब उनकी यह जिम्मेदारी थी। मुझे यह लगता है कि प्रेमचन्द अगर आज होते तो उनकी जिम्मेदारी तब से कम नहीं होती। पराधीन देश में एक लेखक उस समय की सरकार से सतर्क रहता है। देशवासियों के मनोभाव प्रकट करते समय कहीं उसे शासन द्रोही मानकर दण्डित न किया जाए। दूसरी तरफ वह अपनी जनता, अपने लोगों के भाव, उनकी अभिव्यक्ति न करें तो दूसरी ओर से आफ़त। 'प्रेमचन्द घर में' इन बातों पर गम्भीरता से विचार करते हैं–''लेखक को पब्लिक और गवर्नमेण्ट अपना गुलाम समझती है। आखिर लेखक भी कोई चीज़ है। वह सभी की मर्जी के मुताबिक लिखे तो लेखक कैसा? लेखक का भी अस्तित्व है। गवर्नमेण्ट जेल में डालती है, पब्लिक मारने की धमकी देती है, इससे लेखक डर जाए और लिखना बन्द कर दे।' प्रेमचन्द तो यहाँ तक कहते हैं कि जो कानून प्रजा पर लागू होते हैं वही कानून बनाने वाली सरकार पर भी लागू होते हैं।

प्रेमचन्द मनुष्य पहले हैं साहित्यकार बाद में। महाभारत की उक्ति उनके ध्यान में अवश्य रही होगी जिसमें मनुष्यत्व से श्रेष्ठ कोई चीज़ नहीं मानी गयी है। हंस के सम्पादकीय लिखते समय वह गीता का स्मरण गाँधी के सन्दर्भ में करते हैं। सद्विवेक सद् आचरण और सत्यान्वेषी दृष्टि से किये गये कार्य में अगर विफलता भी मिलती है तो वह तथाकथित सफलताओं की भारी फ़ौज पर भी भारी पड़ती है। हंस जनवरी 1934 के अपने सम्पादकीय में प्रेमचन्द लिखते हैं–

'जिस कला पर जीविका का भार नहीं, वह केवल शौक है, केवल व्यसन, जो मनुष्य अपना बेकार का समय काटने के लिए किया करता है यह केवल मनोरंजन है, दिमाग की थकान मिटाने के लिए जीवन की मुख्य वस्तु कुछ और है; मगर सच्चे कलाकार की कला ही उसका जीवन है। इसी में वह अपनी सम्पूर्ण आत्मा से मरता है लिपटता है।'

अपने साहित्य में वह सम्पूर्ण आत्मा से लिपटे हैं मरे हैं यह तो उनके आलोचक जानें। अपन तो उनके साहित्य के साधारण पाठक हैं। पितामह मानते हैं कि सीधा आदमी था पर था महीन। मुझे भी कुछ-कुछ पितामह का कहना ही सही लगता है।

❑

बाजार में दलित कहाँ?

nfyr foe'kZ

मोहनदास नैमिशराय

लितों में कुछ ने गधे पाल लिये। कुछ ने घोड़े खरीद लिये, पर रेस के मैदान में दलितों के घोड़े न दौड़ सके। हाँ, वे घोड़ों के आगे-पीछे जरूर दौड़ लगाते रहे। कुछ घोड़ों की लीद उठाने में ही मशगूल रहे। इसके आगे देखें तो कुछ घोड़ों के तलुओं में नाल ठोकने का कार्य करते रहे।

अशोक चक्रधर की कविता है- 'आवाज देकर रिक्शेवाले को बुलाया/वो कुछ लंगड़ाता हुआ आया/मैंने पूछा/यार, पहले ये तो बतलाओ/पैर में चोट है रिक्शा कैसे चलाओगे?/रिक्शेवाले ने कहा/बाबूजी, रिक्शा पैर से नहीं, पेट से चलता है।' मगर बेनी पट्टी के संतोष तो इस तर्जुमे को भी पीछे छोड़ आए। दोनों आँखों से अन्धे संतोष परिवार के पेट की खातिर छोटे भाई के साथ रिक्शा खींच रहे हैं। वे पैडल मारते हैं, तो उनका भाई हैंडल संभालता है। संतोष की कहानी जीवन के प्रति असीम उत्साह की कहानी तो है ही, यह जीवन के हर मोड़ पर हार को न स्वीकारने का संदेश भी देती है। बिहार के मधुबनी जिले के बेनीपट्टी ब्लाक के कछड़ा गाँव के बसवरिया टोला निवासी संतोष राम और उनके छोटेभाई राजूराम के जज्बे को हमारा सलाम।

किसानों और मजदूरों के श्रम की इसी महत्ता को समझने के कारण मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। सारे ही खनिज पदार्थ जमीन में मिश्रण के रूप में पाये जाते हैं। जब तक ये अलग नहीं किये जाते सभी कीमत समान ही होती है। जब मनुष्य का हाथ उस मिश्रण में लगता है तभी सारे खनिज पदार्थ एक दूसरे से अलग किये जाते हैं। इस तरह जब श्रम से खनिजों का शोधन कर लिया जाता है जब उनकी कीमत कई गुना बढ़ जाती है। इस बढ़ी हुई कीमत को ही मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य कहा और इस पर श्रमिक का हक बताया। मार्क्स के अनुसार पूंजीपति इस अतिरिक्त मूल्य में श्रमिक को उसका वाजिब हिस्सा न देकर श्रमिक का शोषण करता है। इसलिए मार्क्स ने सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि श्रमिक को चाहिए कि अपने इस हक को वह ताकत के बल पर छीन ले। इसी सिद्धान्त को मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त कहा गया। बात साफ है कि किसी भी देश की समृद्धि में वहाँ के श्रमिकों ने अनेक कष्ट सहे हैं तो इस सम्पन्नता में उन्हें उनका वाजिब हक मिलना ही चाहिए। ईरान से मार कर भगाए गये आर्य जब भारत आए तो यहाँ की सम्पन्नता को देखकर ललचा गये। श्रमणों से उनकी सम्पति हथियाने का जुगाड़ करना शुरू किया और यहाँ के मूल

लेखक दलित चिन्तक और उपन्यासकार हैं।
namishray@hotmail.com
+918802685902

निवासी श्रमणों को एक दूसरे के खिलाफ लड़ाकर उनकी सम्पत्ति हथिया ली।

भारत में श्रमण संस्कृति का इतिहास बहुत पुराना है। आर्यों के आने तक श्रम का महत्त्व था। इसलिए कि श्रम का जीवन से जुड़ाव था। भारत की जमीन और जलवायु खेती के अनुकूल रही। बकौल डॉ. राजबहादुर मौर्य खेतों और खलिहानों में श्रम करने वाले श्रमण कहलाए। भारत की सम्पन्नता का असली कारण श्रमण की मेहनत है।

आजादी के बाद सम्पन्नता और विपन्नता में और भी अन्तर आया। कुटीर उद्योग ध ंधों को बढ़ावा मिलना चाहिए था, लेकिन वह न हो सका। बड़े उद्योगों और उद्योगपतियों को बढ़ावा दिया गया। उनकी सुविधाओं का ध्यान रखा गया, छोटे-छोटे धंधे चला रहे आम आदमी की परेशानियों को दरकिनार कर दिया गया। आजादी के कितने दशक बीत गये। तब से अब तक अगर उद्योगनीति, योजनाओं का अध्ययन और विश्लेषण किया जाए तो निराशाजनक उत्तर मिलेगा। सत्ता के घोड़ों पर सवार देश के कर्णधारों को इतनी फुर्सत नहीं मिली कि वे तसल्ली से उस वर्ग की खुशहाली के बारे में भी सोच सकते।

अब से लगभग 25-30 वर्ष पूर्व कलकत्ता से प्रकाशित 'रविवार' पत्रिका में छपे संपादक उदयन शर्मा के विचारों को देखें तो उन्होंने तब लिखा था कि दलितों की व्यापार में स्थिति यह है कि कलकत्ता के 'चौरंगी बाजार' मुंबई के 'नरीमन प्वाइंट' तथा नयी दिल्ली के 'कनाट प्लेस' में एक भी दुकान दलित समाज के किसी व्यक्ति की नहीं है। आज भी स्थिति वही है, जिसके बारे में उदयन शर्मा को यह जिक्र करना पड़ा था। हमने आजादी के साठ बरस गंवा दिये। आज भी कोई छोटी-सी भी दुकान इन तीनों महानगरों के इन बाजारों में न खरीद सके और न चला सके। मैं इसमें लखनऊ का 'हजरतगंज बाजार' नागपुर का 'सदर बाजार' इलाहाबाद का 'सिविल लाइन' शिमला का 'माल रोड' और ऐसे ही बैंगलोर, मैसूर, भोपाल, पुणे, इन्दौर, नासिक, चण्डीगढ़, जलंधर, आदि महानगरों में चमकने-दमकने वाले बाजारों को भी जोड़ दूँ तो जवाब वही नकारात्मक ही मिलेगा। यानी इन बाजारों में कहीं भी व्यापार में दलितों की भागीदारी नहीं है।

दलितों में कुछ ने गधे पाल लिये। कुछ ने घोड़े खरीद लिये, पर रेस के मैदान में दलितों के घोड़े न दौड़ सके। हाँ, वे घोड़ों के आगे-पीछे जरूर दौड़ लगाते रहे। कुछ घोड़ों की लीद उठाने में ही मशगूल रहे। इसके आगे देखें तो कुछ घोड़ों के तलुओं में नाल ठोकने का कार्य करते रहे। दिल्ली में पुरानी सब्जी मण्डी के पास एक पूरी बस्ती ऐसी है जहाँ वे यही पेशा करते हैं। घोड़ा तांगा या इक्का चलाने वालों में अधिकांश मुसलमान रहे। उनके हिस्से में आया तो रिक्शा। वे घोड़ा बन उसी में जुते रहे। वहीं खटते-मरते रहे और सवारियाँ ढोते रहे। रिक्शा भी ज्यादातर किराए का ही चलाते रहे। न उन्हें बैंक से कर्ज मिल सका और न स्वयं ही रिक्शा खरीदने की रकम का बंदोबस्त कर सके। रिक्शों की बॉडी गैर दलित बनाते रहे और दलित रिक्शा चलाते हुए गर्मी में अपनी बाडी तपाते रहे। किराए पर रिक्शा देने वालों में भी दलित नहीं रहे। स्कूटर और टैक्सी चलाने वालों में देखा जाए तो बहुत कम दलित समाज के लोग हैं। चाहे वे डाईवर बंबई में हों या कलकत्ता में। इसी तरह स्कूटर, टैक्सी या बसों को बनाने की बात तो बहुत दूर रही उनकी रिपेयर और सर्विस के लिए गैराज या वर्कशाप तक के मालिक दलित नहीं हैं। वैसे बड़ी संख्या में गाड़ियों को साफ करने वाले रंग रोगन करने वालों में दलित जरूर मिल जाएंगे।

असल में किसी भी जाति या वर्ग के व्यक्ति या समूह का व्यापारी के रूप में परिवर्तित होने की एक खास प्रक्रिया रही, जिससे दलित समाज के लोग महरूम रहे। न उन्हें राजाश्रय मिला और न ही सहकारिता आधार पर उन्हें स्वयं उन्हीं की जातियों वाले राजनीतिज्ञों या सामाजिक कार्यकताओं ने जोड़ने के प्रयास भी नहीं किये। अधिकांश दलित नेताओं को देखें तो उनका सिर्फ यही टेप चलता रहा। हम भूखे हैं। हम नंगे हैं। हम बेसहारा हैं। हम दलित हैं। हम पतित हैं। हम बहिस्कृत हैं। लगभग एक सदी से यही टेप चालू है। हर पाँच वर्ष बाद दलित नेता उसमें चाबी भर देते हैं। टेप चलता रहता है। जबकि दलित अभी भी बोझा ढोते हैं। पल्लेदारी करते हैं। घर-घर जाकर वस्तुएँ बेचते हैं। औरतें मसाला साफ करती हैं। बकरे के पाए भूनती हैं। प्राईवेट नर्स बन धनवान लोगों की टट्टी तक साफ करती हैं। सामन्तों के खेतों में काम करती हैं। घर-घर जाकर झाड़ू पौंछा लगाती हैं, बर्तन मांजती हैं। जिस्मों की मालिश भी करती है।

मनुष्य के द्वारा किसी भी क्षेत्र में किया गया संघर्ष इस बात का गवाह है कि वह व्यक्ति संघर्ष से मिली उपलब्धियों को नयी पीढ़ी को दे जाता है। कभी-कभी तो व्यक्ति विशेष के संघर्ष को सदियों तक याद किया जाता रहा है। जाहिर है कि कुछ लोग अपने परिवार के बारे में भी सोचते हैं जबकि कुछ महापुरूष परिवार की चिंता नहीं करते। बाबा साहेब डा. अम्बेडकर इस बात के महत्त्वपूर्ण उदाहरण रहे है कि उन्होंने अपने परिवार के बारे में न सोच कर देश और समाज की बेहतरी के लिए अधिक कार्य किया। पर यहाँ सबसे बड़ा सवाल यह उभरता है कि बाबा साहेब के उन कार्यों को क्या उनके परिवार या उनकी जाति के लोगों ने आगे बढ़ाने के लिए कुछ किया? जवाब है बिल्कुल नहीं। बाबा साहेब ने जो पीपुल्स एज्यूकेशन सोसायटी बनाई, उसी का प्रसार कहाँ हुआ? स्वयं मुंबई में देखा जाए तो इस बारे में निराशा ही मिलेगी। मुंबई ही क्यों समूचे देश में स्कूल, कालिज तथा विश्वविद्यालयों का सर्वेक्षण कर लीजिए। कहीं इन शिक्षा संस्थानों में दलितों की सहभागिता नजर नहीं आएगी। आएगी तो समदंर में बूंद की तरह। जबकि बाबा साहेब ने स्वयं नारा दिया था, शिक्षित बनो.....। यह भी विरोधामास है कि जिन द्विजों के स्कूल कालिजों में दलितों ने शिक्षा ली, उन्हीं को वे लात मारना सीख गये, पर अपनी तरह से, अपने इतिहास, साहित्य, संस्कृति को लेकर स्कूल कालिज शुरू करना नहीं सीख सके।

हालांकि देखा जाए तो उस समय उतना बाजारवाद समाज पर हावी नहीं था। और न डॉ. अम्बेडकर ने कभी कमर्शियल पहलू को सामने रखा। उनके तो सिद्धान्तों तथा विचारों का उद्देश्य शुद्ध रूप से सामाजिक था। पर कुछ मायनों में वे यह भी चाहते थे कि दलित समाज की आर्थिक स्थिति मजबूत हो, वे व्यापार में भी आगे आएँ। स्वाभिमान से जिएँ और अपने पैरों पर खड़े हों। हमें इस बात

की भी जानकारी मिलती है कि बाबा साहेब के समय में और उनके बाद दलित समाज के बीच से कुछ लोगों ने सहकारिता आधार पर कुछ नये क्षेत्रों में दखल दिया था जबकि कुछ लोगों ने व्यक्तिगत रूप में व्यापार करना शुरू किया। दलितों के अपने होटल नहीं हैं। सवर्णों के होटलों में गुलामगिरी करते हैं। वहाँ दलित बिस्तर पर चादरें बदलते हैं। बर्तन धोते हैं। झाड़ू लगाते हैं, पाखाना साफ करते हैं और पाँच-दस रूपये मिलने पर ही सलाम बजा लेते हैं।

ऐसा नहीं है कि दलितों ने प्रयास नहीं किये। वे आरम्भ से हुनरबंद रहे, संघर्ष करते रहे, मेहनत मशक्कत करने में पीछे न रहे। लेकिन दलितों को ईमानदारी से आर्थिक सहयोग नहीं मिल सका। कर्ज की पूरी राशि तो कभी मिली ही नहीं। हाँ, उनके उद्धार के नाम पर सरकारी विज्ञापनों के माध्यम से शोर अधिक मचाया गया फिर राजनीति भी की गयी। बैंक से कभी कर्ज मिला, तो कभी नहीं। कुछ वर्ष पहले तक स्थिति यह थी कि दलित समाज के किसी व्यक्ति को अगर बैंक से कर्ज लेना होता था तो उसे दिल्ली के सभी बैंकों में जाकर नो ओब्जेक्शन सर्टिफिकेट लेना जरूरी था कि उसने किसी अन्य बैंक से कर्ज तो नहीं लिया। इस भागदौड़ में वह इतना टूट कर बिखर जाता था कि बैंक में कर्ज के लिए आगे कुछ कर ही नहीं पाता था। शायद इसी समस्या को ध्यान में रखते हुए तब के गृह राज्यमंत्री श्री योगेन्द्र मकवाना जी ने दिल्ली के ही देवनगर क्षेत्र में 'अनुसूचित जाति वित्त विकास बैंक' की शुरूआत की थी। कुछ वर्ष यह बैंक ठीक-ठाक चला। बाद के दिनों में बंद हो गया या बंद कर देना पड़ा। आर्थिक क्षेत्र में दलितों को सबल बनाने के लिए उत्तरी भारत में यह पहला और अन्तिम प्रयास था, जो सफल नहीं हो सका।

उत्तर प्रदेश ही मायावती से पूर्व दलितों ने 'सूगर मिल' शुरू करने के लिए आवेदन किया जो उनसे कहा गया कि वे सूगर मिल नहीं चला सकते। लिहाजा न उन्हें इजाजत दी गयी और न ही उन्हें बैंक से कर्ज लेने की स्थितियों को ही बनाया गया। सूअर पालन, मुर्गीपालन, भैंस पालन तथा जूते-चप्पल बनाने

के लिए थोड़ा बहुत कर्ज जरूर दिया गया। प्रेस लगाने, ब्यूटी पार्लर चलाने, शहद की मक्खियाँ पालने, ट्रक या बसें लेने के लिए जब-जब भी दलितों ने आवेदन किया उन्हें उनकी जाति याद दिलाते हुए बैंक कर्मियों द्वारा यही कहा गया कि उन्हें यानी दलितों को इन कार्यों का कोई अनुभव नहीं।

यह भी देखा गया कि इस शताब्दी के पूर्व तक जिन दलितों के द्वारा मैन्यूफैक्चिरिंग का जो कार्य हो रहा था, वह समाज बदलने तथा नयी तकनीक के कारण उनसे छूटता गया। उदाहरण के लिए मेरठ और जलंधर में फुटबाल आदि खेल का सामान बनाने में दलित समाज के जो कारीगर जुटे थे, वे टूटते गये। महंगाई की मार ने उन्हें कहीं का नहीं छोड़ा। इस क्षेत्र में बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ आ गयी, जिन्होंने वर्षों से काम करने वाले परफैक्ट कारीगरों को बंधुआ बना लिया। आगरा और कानपुर में भी ऐसा ही हुआ। वहाँ के जूते-चप्पल बनाने वालों को पहले बाटा ने तोड़ा फिर अन्य बड़ी कम्पनियों ने। जाहिर हैं वे बिखरते चले गये। बड़ी कम्पनियों का मार्किट पर दबदबा बढ़ा, फेशन ने उन्हें पंगु कर दिया। रहा सहा खेल बिगाड़ा मशीनों ने। कहना न होगा कि साहूकारों यानी बैंकों, बड़ी कम्पनियों के मालिकों तथा अर्थ सम्बन्धित सरकारी अधिकारियों ने सिर्फ उन्हें झाड़ी का मजदूर बना दिया। वह रोज कुँआ खोदेगा और उससे अपनी प्यास बुझाएगा।

देश की राजधानी तक में नयी पुरानी दलित बस्तियों सदर बाजार, बगीची, तुर्कमान गेट, फराश खाना, करोल बाग, मटिया महल, रघुवीर नगर, मादीपुर जैसी सैकड़ों जगह लाखों ऐसे मजदूर हैं जिन्हें जीवित रहने के लिए दस-दस घण्टे काम करना जरूरी हो गया है। यही नहीं उनके बीवी बच्चों की भी यही नियति बन गयी है। चाहे वह किताबे बाइंडिंग का कार्य हो कपड़ों पर चांद सितारे जड़ने का।

आज नई शताब्दी में अवश्य ही कुछ बदलाव हुए है, लेकिन जहाँ द्विज व्यापारी कई मील आगे बढ़ गया है वही दलित कारीगर कुछ फिट ही आगे जा का है। जहाँ शहरों में द्विजों ने माल बनाने आरम्भ कर दिये हैं वहाँ वह किसी कोने में सिर्फ छोटी सी दुकान ही बना पाया है। जहाँ गोल्डन ट्रांसपोर्ट जैसे ट्रासपोर्टरों के एक-एक हजार ट्रक हैं, वहाँ दलितों के हिस्से में दो-चार ट्रक ही आ पाए हैं। अंत में कहना चाहूँगा कि महाराष्ट्र में दलित व्यापारियों की डिक्की जैसी संस्था का निर्माण तथा सहकारिता बैंकों का अस्तित्व में आना प्रेरक बात कही जा सकती है। देर-सबेर दलितों को व्यापार क्षेत्र में आना ही चाहिए।

❑

धूमिल की कविताओं में स्त्री-विरोध

शारदा बनर्जी

धूमिल की कविता का भाषिक संरचना स्वभावतः स्त्री-विरोधी है। वे स्त्री के लिए जिन उग्र और उत्तेजनापूर्ण शब्दों का प्रयोग कविता में करते हैं उससे स्त्रियों को सख्त घृणा है। स्त्री जोर से कहना या सुनना पसन्द नहीं करतीं, इससे परेशान होती हैं। स्त्री गर्म भाषा न कहती है, न लिखती है और न बोलती है।

धूमिल की कविताएँ जनतन्त्र को सम्बोधित करने वाली कविताएँ हैं। ये कविताएँ सीधे-सीधे देश के लोकतन्त्र, संविधान, संसद और नेता की तीखी आलोचना में लिखी गयी और उन्हें चुनौती देती कविताएँ हैं। धूमिल देश की पूँजीवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं थे, फलतः उन्होंने जनतन्त्र पर तीखी, कड़ी एवं पैनी प्रतिक्रिया से लैस कविताओं का सृजन किया और पूँजीवादी समाज के प्रति अपने विरोध को स्पष्ट तौर पर जगजाहिर किया है। किन्तु इस सन्दर्भ में ध्यान देने वाली बात यह है कि संविधान, संसद, लोकतन्त्र और आजादी को निरर्थक और निस्सार सिद्ध करने के लिए उन्होंने जिन कविताओं की रचना की है, उनमें से अधिकतर कविताएँ स्पष्टतः धूमिल की मानसिकता में व्याप्त घोर स्त्री-विरोधी चेतना को दर्शाता है। उनकी कविताएँ स्त्री के प्रति उनके आक्रामक रुख को, उनमें व्याप्त पुंसवादी मानसिकता के लक्षण को साफ तौर पर उजागर करता है।

धूमिल 'संसद से सड़क तक' कविता-संग्रह की पहली कविता 'कविता' में लिखते हैं–एक सम्पूर्ण स्त्री होने के पहले ही/ गर्भाधान की क्रिया से गुजरते हुए/ उसने जाना कि प्यार/ घनी आबादी वाली बस्तियों में/ मकान की तलाश है/ लगातार बारिश में भीगते हुए/ उसने जाना कि हर लड़की/ तीसरे गर्भपात के बाद/ धर्मशाला हो जाती है और कविता/ हर तीसरे पाठ के बाद।' (1972, पृ-7)

इस कविता में धूमिल पाठक वर्ग को इस बात का एहसास दिलाना चाहते हैं कि यह एक ऐसा नया युग है जहाँ लोकतन्त्र, संसद किसी भी चीज का कोई मूल्य नहीं है। जाहिर है इस युग में कविता भी बदल चुकी है और कवि भी परम्परागत लीक से कटे हुए नये कवि हैं जिनकी सोच नयी है और जो हर एक चीज का अस्वीकार कर रहे हैं। किन्तु गौरतलब है कि कविता के इस बदले हुए पैटर्न की तुलना करने के लिए कवि को स्त्री के यौनांग ही क्यों याद आते हैं और खासकर 'गर्भाधान' तथा 'गर्भपात' जैसे शब्दों का प्रयोग कर धूमिल ने स्त्री के अस्तित्व को केवल प्रजनन तक सीमित मानकर उसके अस्तित्व के मूल्य को बेहद

लेखिका कोलकाता विश्वविद्यालय में शोधार्थी हैं।
saradabanerjee@gmail.com
+919732233877

संकुचित कर दिया है। साथ ही इस तरह के शब्दों का प्रयोग स्त्री के चरित्र-हनन से जुड़ा हुआ है। यह वस्तुतः स्त्री को देखने का पितृसत्ताक पुंसवादी दृष्टिकोण है। प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी के शब्दों में, 'पितृसत्ताक नजरिए के कारण स्त्री क्रमशः अधिकारहीन हुई, भोग की वस्तु बनी, इसी भोगवादी दृष्टि का साहित्य में भी जयघोष हुआ। साहित्य में स्त्री को भोग की वस्तु के रुप में देखा गया। उसकी उन तमाम क्रियाओं को रुपायित किया गया जिनसे भोगवाद या सुखवाद को विस्तार मिले।' ('स्त्रीवादी साहित्य विमर्श', 2011, पृ. 207-208)

उपरोक्त संग्रह की 'जनतन्त्र के सूर्योदय में' कविता में धूमिल जनतन्त्र को 'सिर कटे मुर्गे की तरह फड़कते हुए' दिखाते हैं और उन्हें ऐसा लग रहा है कि जनतन्त्र जल रहा है, जनतन्त्र में बेइमानी भरी पड़ी है लेकिन कोई इसका प्रतिवाद नहीं कर रहा। फलस्वरुप देश की विपरीत परिस्थितियों में कभी आवश्यक कोई सुधार नहीं होगा। 'सड़क के पिछले हिस्से में/ छाया रहेगा/ पीला अन्धकार/ शहर की समूची/ पशुता के खिलाफ/ गलियों में नंगी घूमती हुई/ पागल औरत के 'गाभिन पेट' की तरह/ सड़क के पिछले हिस्से में/ छाया रहेगा पीला अंधकार।' (पृ-12) आगे कवि मातृभाषा का जिक्र करते हुए कहते हैं, 'यह जानकर कि तुम्हारी मातृभाषा/ उस महरी की तरह है, जो/ महाजन के साथ रात-भर/ सोने के लिए/ एक साड़ी पर राजी है।' (पृ-13)

यहाँ उल्लेखनीय है कि जनतन्त्र की दुबर्लताओं का बयान करने के लिए धूमिल ने 'गाभिन पेट' और 'महरी' जैसे स्त्री-अपमानसूचक उपमानों को ढूंढ़ निकाला है जो स्त्री के समूचे व्यक्तित्व पर जबरदस्त प्रहार करता है। यह अचम्भे की बात है कि धूमिल जैसे जनतांत्रिक कवि जनतन्त्र की चर्चा करते हुए जनतन्त्र की तुलना अचानक स्त्री की योनि और यौनांगों से करने लगते हैं और उन अंगों को अपशब्द कहते हुए उनकी निंदा करते रहते हैं। उन्हें यह पता होना चाहिए था कि लोकतन्त्र का रास्ता स्त्री की योनि से होकर नहीं जाता। लोकतन्त्र और स्त्री अलग-अलग मुद्दे हैं और लोकतन्त्र की अक्षमताओं का जिक्र करने के लिए स्त्री की योनि के अतिरिक्त भी कई मुद्दे हैं जिन्हें कायदे से उठाया जा सकता है। यह भी जानना जरुरी है कि लोकतन्त्र में स्त्री आजाद और सम्मानित है, उसके पास कानूनी अधिकार है। उसे पुरुषों के समान दर्जा दिया गया है। वह केवल सोने के लिए और प्रजनन के लिए नहीं बनी है। उसके पास योनि के अतिरिक्त भी बुद्धि है, विवेक है, गुण है, उसकी निजता है जिसके आधार पर वह समाज में अपना स्वायत्त दर्जा और स्थान बना सकती है, जीवन में एक मर्यादापूर्ण जिंदगी जी सकती है।

अचंभे की बात है कि स्त्री के प्रति इस विपरीत मानसिकता को, स्त्री पर हुए इस काव्यिक आक्रमण को हिन्दी के किसी आलोचक ने आज तक गम्भीरता से नहीं लिया। उन्हें केवल धूमिल की कविताओं में जनतन्त्र के प्रति आक्रोश, गुस्सा और बौखलाहट दिखाई देता है, जनतन्त्र की ओट में किये गये स्त्री-सम्मान पर आघात नहीं। धूमिल द्वारा जनतन्त्र का नकाब उतारते दिखाई देता है पर स्त्री को नंगा करते, उसकी मर्यादा को उतारते, उस पर चोट करते नहीं दिखाई देता। क्या कारण है कि स्त्री-गुप्तांगो को लेकर किये गये ये शाब्दिक छेड़छाड़ आलोचकों पर प्रभाव नहीं डालता? अपितु वे इन्हीं पंक्तियों पर तारीफों के पुल बांधते हैं। मसलन 'संसद से सड़क तक' कविता संग्रह की 'उस औरत की बगल में लेटकर' कविता पर अशोक वाजपेयी लिखते हैं, 'धूमिल की दायित्व-भावना का एक और पक्ष उनका स्त्री की भयावह लेकिन समकालीन रुढ़ि से मुक्त रहना है। मसलन स्त्री को लेकर लिखी गयी उनकी कविता उस औरत की बगल में लेटकर किसी तरह का आत्मप्रदर्शन, जो इस ढंग की युवा कविताओं की लगभग एकमात्र चारित्रिक विशेषता है, नहीं है, बल्कि एक ठोस मानव-स्थिति की जटिल गहराइयों में खोज और टटोल है जिसमें दिखाऊ आत्महीनता के बजाय अपनी ऐसी पहचान है जिसे आत्म-साक्षात्कार कहा जा सकता है।' (संसद से सड़क तक, फ्लैप कवर)

किन्तु एक दायित्व-बोध सम्पन्न कवि के लिए यह भी जरुरी है कि आत्म-साक्षात्कार के साथ-साथ वह समाज का भी साक्षात्कार करें। उसमें सामाजिक जागरुकता हो तथा वह सामाजिक परिवर्तन का हिमायती हो। समाज के उपेक्षितों में स्त्री भी आती है, तो सवाल उठता है कि उस पर कविता के जरिए इस तरह का आक्रमण क्यों? इस सन्दर्भ में धूमिल सहित पूरे अकवितावादियों पर टिप्पणी करते हुए रघुवीर सहाय ने लिखा है, 'स्त्री पर इस कविता ने जितना आक्रमण किया है वह दिखाता है कि असलियत क्या है? यद्दपि वे विद्रोह की, समाज को बदल देने की मुद्रा अपना रहे हैं तो भी आक्रमण कर रहे हैं स्त्री पर, जो कि उपेक्षितों का प्रतीक है।' (रघुवीर सहाय रचनावली-3), (पृ- 435) यह उल्लेखनीय है कि रघुवीर सहाय ने यह विरोध अपने प्रख्यात कविता-संकलन 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कुछ कविताओं के माध्यम से भी व्यक्त किया है। इस संग्रह की 'फ़िल्म के बाद चीख' कविता में वे लिखते हैं, 'क्रोध, नक्कू क्रोध, कातर क्रोध/ तुमने किस औरत पर उतारा क्रोध/ वह जो दिखलाती है पेट पीठ और फिर भी किसी वस्तु का विज्ञापन नहीं है/ मूर्ख, धर्मयुग में अस्तुरा बेचती है वह/ कुछ नहीं देती है बिस्तर में बीस बरस के मेरे/ अपमान का जवाब।' (1967, पृ. 85)

धूमिल की कमजोरी है कि वे अपनी कविताओं में समाज के विभिन्न रुपों एवं स्तरों का उद्घाटन करने के बजाय स्त्री-शरीर के उद्घाटन में अपनी पूरी शक्ति लगा दिये। उन्हें यह लगा कि स्त्री को नंगा करने का अर्थ लोकतन्त्र को नंगा करना है। वस्तुतः स्त्री पर स्वच्छंद तरीके से भी कविता लिखी जा सकती है, स्त्री को कविता में खुले रुप में उभारा जा सकता है लेकिन इसके लिए जरुरी है कि स्त्री के प्रति सम्मान का भाव हो। मसलन चिलिअन कवि पैब्लो नेरुदा ने स्त्री-शरीर और अपने व्यक्तिगत प्रेम-अनुभव को केन्द्र में रखकर उसी दौरान अनेक कविताओं का सृजन किया है जो किसी भी दृष्टि से स्त्री के प्रति अपमानजनक भावबोध को व्यक्त नहीं करता।

लोकतन्त्र के लिए बेहद जरुरी है कि किसी भी चीज को पुनर्परिभाषित किया जाए। किन्तु हमारे आलोचकों ने भारत के लोकतन्त्र

को पुनर्परिभाषित ही नहीं किया। सवाल यह है कि यदि लोकतन्त्र के सन्दर्भ में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को पुनर्परिभाषित करना हो तो कौन-सी चीज महत्त्वपूर्ण है, स्त्री की योनि या जीवन का वैषम्य? स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में जीवन के वैषम्य पर बहस होनी चाहिए, उसे उद्घाटित करना चाहिए ना कि योनि को। कायदे से योनि पर कविता लिखना स्त्री पर हमला करना है, स्त्री को उपकरण की तरह इस्तेमाल करना है। योनि पर लिखने से स्त्री और स्त्री-वैषम्य उद्घाटित नहीं होती। स्त्री वैषम्य को उद्घाटित करने के लिए स्त्री पर बहस जरुरी है। स्त्रियों के जीवन की अनेक समस्याएँ हैं, स्त्री के अनेक सामाजिक रुप हैं, इन पर चर्चा होनी चाहिए थी। स्त्री को नये सिरे से परिभाषित करने की जरुरत थी। मसलन स्त्री क्या है, उसकी दुनिया कैसी है, उसकी समस्याएँ क्या-क्या है। किन्तु लोकतन्त्र के आने के बाद स्त्री के प्रति नये सिरे से हमारे सरोकार तय नहीं हुए। खासकर हिन्दी साहित्य में स्त्री पर बहस नहीं हुई, उसे परिभाषित करने की कोशिश नहीं की गयी।

धूमिल की कविता का भाषिक संरचना स्वभावतः स्त्री-विरोधी है। वे स्त्री के लिए जिन उग्र और उत्तेजनापूर्ण शब्दों का प्रयोग कविता में करते हैं उससे स्त्रियों को सख्त घृणा है। स्त्री जोर से कहना या सुनना पसन्द नहीं करतीं, इससे परेशान होती हैं। स्त्री गर्म भाषा न कहती है, न लिखती है और न बोलती है। उसे उग्र भाषा कतई पसन्द नहीं।

द्रष्टव्य है कि धूमिल अपनी कविताओं में सामाजिक सम्बन्धों, वर्गीय-सम्बन्धों, मानव-सम्बन्धों और राजनीतिक प्रतिकूलताओं को नहीं खोलते। यह उनकी समझ के बाहर था कि राजनीति में केवल पूँजीवादी असंगतियाँ ही नहीं आती। धूमिल उस जमाने की वर्तमान समस्याओं को सम्बोधित ही नहीं करते। उस दौरान सन् 1962 में भारत-चीन युद्ध हुआ और 1965 में भारत-पाक युद्ध हुआ जिसका उनकी कविता में कहीं कोई जिक्र नहीं। सन '60 से '70 के बीच जो वास्तविक आर्थिक संकट था उसे धूमिल की कविता नहीं छूती। 27 मई, 1964 में नेहरू की मौत से सारा देश भयानक डिप्रेशन में चला गया। लोगों में असन्तोष भर गया। धूमिल की कविता में इस असन्तोष का कहीं जिक्र नहीं है। वे लगातार लोकतन्त्र और लोकसभा को आक्रमण कर सतही कविताएँ लिखते रहे जो मूल समस्या नहीं थी। समस्या थी महँगाई, शोषण, सामाजिक असमानता, गरीबी, भ्रष्टाचार आदि। उन्होंने विकेन्द्रीकरण के विचार को भी सम्बोधित नहीं किया।

धूमिल लोकतन्त्र को नहीं मानते लेकिन उनके पास लोकतन्त्र का कोई विकल्प नहीं है। उनके अन्दर पूँजीवाद के प्रति तीव्र घृणा है लेकिन समाजवाद का कोई सपना नहीं है। धूमिल यह एहसास दिला रहे थे कि वे तमाम क्रान्तिकारियों के लिए लिख रहे थे और बागी कवि थे किन्तु क्रान्तिकारियों के अलावा भी बहुत बड़ी जनता थी जिसकी अनदेखी हुई। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि इनकी कविता अकाल-मृत्यु को प्राप्त हुई। आगे चलकर धूमिल के पैटर्न पर कविता नहीं लिखी गयी। चूंकि धूमिल के पास कोई विजन नहीं था, इसलिए उनका दृष्टिकोण, उनकी भाषा, उनकी विषयवस्तु ने आधुनिक पीढ़ी को प्रभावित ही नहीं किया।

वस्तुतः कवि का दृष्टिकोण ही कवि को अमर बनाता है। लोकतन्त्र को देखने के लिए खासकर बड़े विजन की जरुरत है। साथ ही अपने स्टीरियोटाइप सोच से बाहर निकलकर लोकतन्त्र की खोज जरुरी है। लोकतन्त्र पर आक्रमण करने से लोकतन्त्र की समस्याओं का समाधान नहीं होता। लोकतन्त्र के आने के बाद लोकतांत्रिक मूल्यों को अर्जित करने की बेचैनी का होना बहुत जरुरी है ना कि लोकतन्त्र का खारिज। हमें लोकतांत्रिक नजरिए और लोकतांत्रिक परिवेश के निर्माण की ओर बढ़ना है। स्त्री के प्रति सम्मानजनक नजरिए को विकसित करना है। ❑

मौसम की मार से पिसती कृषि

Ñf"k

अतुल कुमार सिंह

जलवायु परिवर्तन से होनेवाले नुकसान पर नियंत्रण के बड़े-बड़े दावे भी किये जा रहे हैं। लेकिन इन सबके बावजूद प्रकृति में बदलाव को रोका नहीं जा सका है। प्रभाव साफ हैं कि मानसून का चक्र बिगड़ रहा है। मौसम का मिजाज बदल रहा है। इसका असर दूरदराज तक गांवों, खेत-खलिहानों तक में हो रहा है।

जलवायु परिवर्तन के आशंकित संकटों को लेकर पिछले 20 साल से दुनिया में घबराहट का माहौल बना हुआ है। इसी के चलते 1992 में रियो दि जनेरियो में आयोजित पहले पृथ्वी सम्मेलन से लेकर लगातार पृथ्वी सम्मेलनों का आयोजन होता आ रहा है। हाल ही में दोहा चक्र की वार्ता सम्पन्न हुई है। लेकिन दुखद पहलू यह है कि इसमें भी कोई ठोस नतीजा नहीं निकल सका है।

दोहा दौर की वार्ता को बचाने की मेजबान देश कतर द्वारा कोशिश किये जाने के बीच बस इतना ही हो सका कि क्योतो प्रोटोकोल की अवधि बढ़ाने पर सहमति बन गयी, जिसके माध्यम से 2020 तक धनी देशों में ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को नियंत्रित किया जाएगा। वार्ता की अवधि एक दिन तक बढ़ने के बाद भी 8 दिसम्बर को वार्ता का समापन करने से पहले केवल एक समझौते तक पहुँचने के राष्ट्रों के संकल्प के बाद करीब 200 देशों ने क्योतो प्रोटोकोल को अगले आठ साल तक कायम रखने पर सहमति भर जताई।

हालांकि, नये समझौते के दायरे में केवल वे विकसित देश आएंगे जिनकी वैश्विक ग्रीन हाउस उत्सर्जन में हिस्सेदारी 15 फीसदी से कम है। भारत के अलावा चीन और अमेरिका जैसे बड़े प्रदूषक देश इसके दायरे से बाहर होंगे। यूरोपीय संघ, ऑस्ट्रेलिया, स्विटजरलैंड और आठ अन्य औद्योगिक राष्ट्रों के 2020 तक उत्सर्जन कटौती करने के बाध्यकारी समझौते पर हस्ताक्षर किए जाने के साथ प्रोटोकोल का विस्तार हो गया। जलवायु सम्मेलन के इस दोहा दौर के अध्यक्ष अब्दुल्ला बिन हमद अल अतीया ने इस समझौते को दोहा क्लाइमेट गेटवे बताया है। समझौते में जो कुछ सकारात्मक है उनमें, ग्लोबल वार्मिंग का मुकाबला करने में गरीब देशों को वित्तीय मदद बढ़ाने और ऊर्जा के स्रोतों को पर्यावरण अनुकूल बनाने की बात शामिल है।

बहरहाल, अमेरिका ने इस सम्मेलन के तहत खुद को किसी नये समझौते से जोड़ने की बात से इनकार किया है। वहीं, रूस ने प्रस्ताव को खारिज कर दिया जबकि जी 77 एवं चीन, बेसिक समूह के देशों ने दोहा के नतीजों का स्वागत किया है। यह घटनाक्रम वार्ताकारों द्वारा सात दिसम्बर की रात भर

लेखक पत्रकार हैं।
atul.kumaar@gmail.com
+919971052227

जटिल ब्योरों और सभी को स्वीकार्य तथ्यों को लेकर किये गये विचार-विमर्श के बाद हुआ है। 12 दिनों तक चली इस वार्ता में गरीब देशों ने इस बात पर जोर दिया कि धनी देश ग्रीन हाउस गैसों में कटौती का ठोस वादा करें और गरीब देशों को वित्तीय मदद दें।

दोहा की वार्ता 7 दिसम्बर को अचानक पटरी से उतर गयी क्योंकि विकसित देश इस बात पर जोर दे रहे थे कि दीर्घकालिक सहयोगात्मक कार्य मंच, जिसे एलसीए भी कहा जा रहा है, की कार्यवाही दोहा में बंद हो गयी। इसमें विकासशील देशों की शिकायत है कि उनकी चिंताओं का निराकरण नहीं हो पाया। बार-बार संशोधनों के प्रस्ताव आने के बावजूद अमीर और गरीब देशों के बीच दीर्घकालिक सहयोगात्मक कारवाई पर सहमति नहीं बन पाई। अमेरिका और यूरोपीय संघ जहाँ एलसीए मुद्दे को जल्द पूरा करने पर जोर दे रहे थे, वहीं भारत और चीन सहित विकासशील देशों का तर्क था कि इसमें वित्तीय तथा प्रौद्योगिकी हस्तान्तरण सहित कई महत्त्वपूर्ण मुद्दों का समुचित हल नहीं हो पाया। भारत और अन्य विकासशील देशों का कहना है कि एलसीए ट्रैक को सफलतापूर्वक बंद करने के लिए उसके तहत आने वाले सभी मुद्दों को संयुक्त राष्ट्र के ढांचे में एक अन्य प्रक्रिया के तहत लाए जाने की जरूरत है।

यह तो हुई दोहा दौर की बात और उसमें आ रहीं बाधाएँ, लेकिन इनमें जो बातें हो रही हैं और जिस ओर वार्ता चली उससे आगे भी किसी ठोस नतीजे निकलने के आसार नहीं है। दूसरी ओर, इसके दीर्घकालिक रूप को देखा जाए तो जलवायु परिवर्तन की गतिविधियाँ केवल पर्यावरण का ही मुद्दा नहीं है बल्कि इससे आनेवाली पीढ़ी के लिए गम्भीर समस्या उत्पन्न होनेवाली है। एक आकलन के मुताबिक, जलवायु परिवर्तन से हो रहे नुकसान का 75 से 80 प्रतिशत मूल्य विकासशील देशों को चुकाना पड़ेगा। इसके लिए विकासशील देशों को हर साल 80 अरब डॉलर की जरूरत होगी। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर विस्थापन का अध्ययन करनेवाली संस्था आईडीएमसी के मुताबिक, 2010 में बाढ़ एवं सूखे की वजह से दुनिया भर में करीब 4 करोड़ महिलाओं और बच्चों को पलायन करना पड़ा है। आईडीएमसी के अनुसार, अगले 30 सालों में 16 देशों में जलवायु संकट बुरी तरह से प्रभाव डालेगा। इनमें से 10 देश केवल एशिया के हैं। खेतिहर किसान, मजदूर, पशुपालक और मछुआरे इसके प्रभाव में आनेवाले सबसे सरल लक्ष्य हैं।

हालांकि, जलवायु परिवर्तन से होनेवाले नुकसान पर नियंत्रण के बड़े-बड़े दावे भी किये जा रहे हैं। लेकिन इन सबके बावजूद प्रकृति में बदलाव को रोका नहीं जा सका है। प्रभाव साफ हैं कि मानसून का चक्र बिगड़ रहा है। मौसम का मिजाज बदल रहा है। इसका असर दूरदराज तक गांवों, खेत-खलिहानों तक में हो रहा है। सबसे अधिक प्रभाव तो कृषि पर पड़ रहा है, जहाँ परम्परागत रूप से बड़ी संख्या में होने वाली फसलों का नामो-निशान तक मिट गया है। इन फसलों की जगह शुद्ध रूप से बड़ी कम्पनियों द्वारा निर्देशित-नियंत्रित बीजों और उनके द्वारा बताए बीजों ने ले लिया है, जिसके पैदावार और पुनरुत्पादन पर उनका ही पूरा नियंत्रण हो रहा है। कम पानी और रासायनिक खादों के बिना पैदा होने वाली कई फसलें समाप्त हो चुकी हैं और उसकी जगह नयी फसलों ने ले लिया है। इनमें बड़ी मात्रा में रासायनिक खादों, कीटनाशकों, परिमार्जित बीजों और सिंचाई की जरूरत पड़ती है।

इसके कारण ग्राम्य जीवन में भी बदलाव आया है। तत्काल कृषि की जरूरतों के मुताबिक हल-बैलों की जगह ट्रैक्टरों ने ले लिया है और परम्परागत अनुभवों और ज्ञान के आधार पर चली आ रही खेती की जगह अब विशेषज्ञों द्वारा निर्देशित खेती लेती जा रही है। इस तरह की खेती व्यापार का रूप ले रही है, जिसमें समाज की न तो कोई भूमिका होती है और न ही उनकी जरुरतों और इच्छाओं का सम्मान। इस प्रकार अनियमित मौसम की वजह से खेती व खाद्य सुरक्षा की समस्या उत्पन्न हो रही है।

एक उदाहरण उत्तर बिहार का है। बिहार के इस इलाके में इसी तरह की कई फसलों का लोप पिछले दो दशकों में हो गया है जो पूरी तरह प्रकृति पर निर्भर हुआ करती थीं। वर्षा चक्र के अनियमित होने और जमीन की उर्वरा शक्ति में कमी से रासायनिक खादों और कीटनाशकों का उपयोग बड़ी मात्रा में होने लगा है। इससे खेती का खर्च बढ़ा है और खेती के तरीके में बदलाव आया है। इसका सीधा असर ग्रामीण कृषक समाज के जीवन स्तर और रहन-सहन पर पड़ रहा है। खेती में उपज तो बढ़ी लेकिन लागत कई गुना अधिक हो गयी, जिससे अधिशेष यानी, मार्जिन का संकट पैदा हो गया। वर्षा के अनियमित होने से पेट्रोलियम या बिजली चालित पंपिंग सेटों से सिंचाई पर निर्भरता आ गयी। गर्मी, जाड़े और बरसात के मौसम में कुछ फेरबदल से फसलों की बुआई, सिंचाई और कटाई का मौसम बदला और जल्दी खेती करने के दबाव में पशुओं को छोड़ मोटर चालित यंत्रों पर निर्भरता आई। इनका परिणाम हुआ कि पूरी तरह किसानी पर निर्भर रहने वाला समाज बुरी तरह से ध्वस्त हो गया। क्योंकि खेती घाटे का सौदा हो गया। अब हर परिवार को खेती के अलावा कोई दूसरा काम करना मजबूरी हो गयी।

देखने में आया है कि अनियमित वर्षा की वजह से धान की खेती कई इलाकों में बन्द हो गयी है। गेहूँ की फसल भी अनियमित हो गयी है क्योंकि देर से वर्षा के कारण देर तक खेतों में काफी नमी रहती है। इसकी जगह नयी तरह की खेती के रूप में एसआरआई विधि सरकार की ओर से पेश की गयी है। जिसमें बताया गया है कि धान की खेती में कम से कम पानी और उर्वरकों की जरूरत पड़ती है। लेकिन व्यावहारिक तौर पर देखने में आया है कि यह विधि इतनी जटिल है कि किसानों के परम्परागत प्रवृत्ति से मेल नहीं खाती। यही कारण है कि किसानों में यह विधि प्रचलित नहीं हो पा रही है।

दूसरी ओर जिले में परम्परागत तौर पर उगनेवाली फसलों जिन्हें आमतौर पर मोटा अनाज कहा जाता है, फसल चक्र के अव्यवस्थित होने से नष्ट हो गये हैं। अब तो इनके बीज भी गांवों में देखने को नहीं मिलते। इनमें शमां, चीना, कोदो, मडुवा, उड़द और भादों में बोये जानेवाले मक्के की फसल है। इसके साथ ही साल भर में तैयार होने वाला अरहर भी अब देखने को नहीं मिलता। इसके कारण पशुओं को चारे कमी हो रही है तो जलावन का संकट भी आ रहा है। इससे गांवों में पशु लगभग खत्म हो गये हैं। इससे पशुओं का उपयोग खेती में खत्म हुआ और इसकी जगह डीजल आधारित ट्रैक्टर जैसी मशीन आ गयी हैं। जो घूमकर फिर पर्यावरण को नष्ट करने का काम करते हैं।

❑

काम, करियर और सभ्यता पर सवाल

jiV

पंकज शर्मा

ऊँच-नीच पर आधारित व्यवस्था में नीचे गिरने का भय नहीं तो और क्या है जो इस सामूहिक पागलपन को जन्म दे रहा है ? क्या यह ज्ञान और शिक्षा का बढ़ता हुआ बोझ और समय की बढ़ती हुई कमी नहीं है जिसने माता-पिता और शिक्षकों को नयी पीढ़ी का स्वाभाविक दुश्मन बना डाला है?

पिछले 26 जनवरी 2013 को दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के राजनितिक विज्ञान केंद्र के समिति कक्ष में करियर, काम और सभ्यता विरोधी दिवस मनाया गया ।

इस आयोजन में जे एन यू और दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्रों और शिक्षकों की सक्रिय भूमिका थी।

इस आयोजन में दिल्ली के मध्यम-मजदूर वर्ग से विभिन्न स्कूलों के बच्चों, उनके माता-पिता, पुरानी पीढ़ी के सदस्य, टैक्सी चालक के अलावा जो प्रमुख लोग मौजूद थे उनके नाम हैं–आदित्य किशोर, सेश्वरा, अंतिका, आयुषी, अंकिता प्रिया, कुशा, पाल सिंह, वीरेश्वर सिंह भदौरिया आदि।

करियर, काम और सभ्यता विरोध का मूल उद्देश्य यह था कि विभिन्न पीढ़ियों और सामाजिक तबकों के बीच सह-पीड़ित होने के आधार पर एक सहज संवाद स्थापित हो और हम अपनी स्थिति का एक जायजा लें।

हॉल की दीवारों पर बच्चों के हाथ की बनाई हुई प्रकृति और फूल की तसवीरें लगाई गयीं थीं। यह कोशिश इसीलिए थी कि बातचीत मात्र मानव-केन्द्रित न हो। विभिन्न पीढ़ियों और समाजिक तबकों का आपास में संवाद तो हो ही, साथ में प्रकृति का मानव के लिए उपादेयता से अलग भी अस्तित्व है, बात भी स्वीकार होनी चाहिए।

हाल के बाहर सभ्यता-विरोधी और काम-विरोधी चिन्तकों और समूहों की चुनिन्दा रचनाओं का प्रदर्शन और वितरण भी हो रहा था। प्रमुख समूहों के नाम थे जैसे : फरीदाबाद मजदूर समाचार के मासिक अखबार के अंक, बैलेड अगेंस्ट वर्क (1996), जॉन जर्जन, डेरिक जेन्सेन, परेश चट्टोपाध्याय, डेनियल क्विन आदि के लेखों की फोटोप्रतियाँ और पुस्तिकाएँ।

पीढ़ियों और विभिन्न सामाजिक तबकों का आपसी संवाद स्कूल में पढ़ते आदित्य और अंकिता का मानना था कि पढ़ाई नंबर-बेस्ड और नौकरी डिग्री-बेस्ड हो गयी है और हमको लगता है कि यदि हम ने यह सब ठीक किया तो हमारा जीवन सफल हो जाएगा। लेकिन सब की बातों से लगता है कि हमको इस तनाव से, इस दवाब से मुक्ति नहीं मिलने वाली है। फिर जीवन सफल होने की बात कैसे की जा सकती है ?

लेखक जामिया मिलिया वि.वि. में शोधार्थी हैं।
pankajdelhi99@yahoo.in
+917827778998

वीरेश्वर सिंह भदौरिया ने कहा कि आन्दोलन का नाम छद्म-काम, छद्म-सभ्यता और छद्म-करियर विरोधी होना चाहिए। क्योंकि वास्तव में अभी जो इनके नाम पर समाज में हो रहा है, वह वास्तविक सभ्यता, वास्तविक करियर और वास्तविक काम कहीं से भी नहीं है।

कार्यक्रम के प्रारम्भ में स्कूल के बच्चों ने अपनी बातें रखीं। कुछ बच्चे तो भावुक हो उठे कि करियर का बोझ उन पर कितना बढ़ गया है कि सर्वांगीण विकास के चक्कर में स्पोर्ट्स, पढ़ाई और एक्स्ट्रा-करिकुलर करते -करते घर में माँ-बाप से और सब से ठीक से बात नहीं हो पाती। स्कूल में दोस्त दोस्त नहीं रहे सब होड़ में प्रतिद्वन्द्वी हो गये हैं।

अगर परिवार या स्कूल में कुछ भी अघट घट जाता है तो दुश्मन या दोषी की खोज प्राथमिक तौर पर शिक्षकों में, माता-पिता में या बच्चों में ही की जाती है , न कि बढ़ते हुए करियर और ज्ञान के बोझ में।

कोई पीढ़ी और कोई सामाजिक तबका नहीं बचा है काम और करियर से चूँकि कामकाजी माँ-बाप के पास समय नहीं है इसीलिए नन्हे शिशुओं को उन को क्रेश में और नर्सरी में छोड़ना पड़ता है। जो किशोर हैं उन पर आज करियर का बोझ पिछली सारी पीढ़ियों से ज्यादा है।

इश्योरेंस कंपनियों, विभिन्न प्रकार की किश्तों, प्रोडक्शन टारगेट, डेडलाइन आदि के लिए बंधुवा मजदूरी में जुटे रहते हैं। आखिर मकान का किराया, स्कूल की फीस, कमकर बने रहने के लिए कुछ जरूरी नये-नये उपकरण और सामान, हारी-बीमारी के लिए पैसे बचाना, आखिर यह सब कौन देगा ?

पुरानी पीढ़ी के सफल सदस्यों ने वह सब कुछ किया था जिसकी मांग समाज और सरकार ने की थी। एक अच्छा करियर बनाने के बाद भी और जीवन भर कड़ी मेहनत करने के बाद भी उन्हें आज बुढ़ापे में क्या प्रतिदान दे रहा है समाज : बढ़ता हुआ अपमान, अकेलापन और गरीबी।

इस प्रकार एक छोर पर वृद्धाश्रमों का बढ़ता हुआ फैलाव और दूसरी तरफ नन्हे शिशुओं के लिए क्रेश इस बात को स्पष्ट रूप से दिखा रहे हैं कि काम के घंटे कितनी तेजी से हमारे जीवन के केन्द्र में शून्य के विस्तार को ही बढ़ावा दे रहे हैं, जहाँ हमारे अपनों के लिए लगातार समय की कमी होती जा रही है। इसका जिम्मेदार कौन है? इसी क्रम में बातचीत में विलास सुखदेवे और राजर्षि दासगुप्ता ने पिछले पचास सालों में समाज में आ रहे तीन बुनियादी परिवर्तनों की और इशारा किया।

बच्चों में बढती हुई होड़–1950 के दशक में हाईस्कूल और सेकण्डरी परीक्षाओं में 50% पाने वाले बच्चे लोगों की नजर में हीरो होते थे। 1960 के दशक में हाईस्कूल और सेकण्डरी परीक्षाओं में 60% पाने वाले बच्चे लोगों की नजर में हीरो होते थे। 1970 के दशक में हाईस्कूल और सेकण्डरी परीक्षाओं में 70% पाने वाले बच्चे लोगों की नजर में हीरो होते थे। 1980 के दशक में हाईस्कूल और सेकण्डरी परीक्षाओं में 80% पाने वाले बच्चे लोगों की नजर में हीरो होते थे। 1990 के दशक में हाईस्कूल और सेकण्डरी परीक्षाओं में 90% पाने वाले बच्चे लोगों की नजर में हीरो होते थे। 2012 में हाईस्कूल और सेकण्डरी परीक्षाओं में 100% पाने का भी कोई मतलब नहीं रहा।

ऊँच-नीच पर आधारित व्यवस्था में नीचे गिरने का भय नहीं तो और क्या है जो इस सामूहिक पागलपन को जन्म दे रहा है ? क्या यह ज्ञान और शिक्षा का बढ़ता हुआ बोझ और समय की बढ़ती हुई कमी नहीं है जिसने माता-पिता और शिक्षकों को नयी पीढ़ी का स्वाभाविक दुश्मन बना डाला है? यह तो स्पष्ट है कि अगर इस स्थिति में बदलाव नहीं आया तो इस पीढ़ी के बच्चे अपने बच्चों के और भी बड़े दुश्मन होंगे।

मध्यम मजदूर वर्ग में बढती हुई होड़–1950 के दशक में एक पुरुष एक दिन में 8-10 घण्टे मेहनत करके 4 या 5 बच्चों वाले परिवार या इससे भी बड़े परिवार का भरण पोषण कर लेता था। यह स्थिति कहीं से भी आदर्श स्थिति नहीं कही जा सकती है। 2012 में पति पत्नी दोनों प्रति दिन 12+12 = 24 घण्टे काम करते हैं, अगर सम्भव हुआ तो बुजुर्ग माता-पिता भी 3 से 4 घण्टे काम करते हैं अर्थात उनके 6 से 8 घण्टे प्रतिदिन। दिन के कुल घण्टे तो बस 24 ही हैं। लेकिन उसी 24 घण्टे में हम काम करने की जगह पर कुल मिला कर हम 8-10 की जगह 30 से 36 घण्टे लगा रहे हैं। अर्थात हम पहले से 4 गुना ज्यादा कड़ी मेहनत कर रहे हैं।

तकनीकी क्रान्ति के चलते हमारी उत्पादकता भी पहले के मुकाबले बढ़ कर हजार गुना हो गयी है। सवाल है कि इसका लाभ हमें क्यों नहीं मिलता है?

फिर भी हम पर शासन करने वाली विचारधारा और सामूहिक मान्याताएँ हमें यह बताते नहीं थकती कि हम कितने कामचोर हैं? हमको और कितनी मेहनत करनी चाहिए! हमें और सही मोटिवेशन और ट्रेनिंग की जरुरत है!

पर्यावरण और प्रकृति का अनवरत नाश–अब तो यह काम-और-करियर-पर-आधारित यह व्यवस्था पृथ्वी के लिए जानलेवा हो गयी है। प्रकृति विनाश के कगार पर खड़ी है। पर्यावरण और प्रकृति का पिछले पचास सालों में जितना नाश हुआ है, उतना पचास लाख वर्षों में नहीं हुआ था।

एक स्पष्ट अन्तर–यहाँ यह अन्तर स्पष्ट करना जरूरी है कि परिवार नामक इकाई के काम के घंटे के पिछले 50 वर्षों में लगभग चौगुने होने की ओर किसी भी प्रमुख परिवर्तनकामी धारा, चाहे वह राजनीतिक हो या सामाजिक या धार्मिक, का ध्यान नहीं गया। अपितु उनका प्रमुख नारा वही रहा है जो शासक वर्गों की विचारधारा सदियों से रही है। काम की विचारधारा। काम का गुणगान चाहे वह गीता का निष्काम कर्म का दर्शन रहा हो अथवा वामपन्थ में काम के अधिकार केलिए लड़ी गयी लडाइयाँ ।

एक और अन्तर–काम के विरोध का अर्थ आलसियों की तरह जीवनयापन नहीं है हँसना, नाचना-गाना, खेलना, पढ़ना-लिखना ये सब सहज मानवीय गतिविधियाँ हैं। लेकिन जैसे ही ये सारी गतिविधियाँ हमारे जीवनयापन का आधार स्रोत बन जाती है तब वह काम में बदल जाती हैं। जैसे बातचीत करना टॉक-शो हो गया है, नाचना गाना इंटरटेनमेन्ट-उद्योग में तब्दील हो गया है। पढ़ना लिखना काम हो गया है। जब हम अपने लिए पढ़ते हैं तब वह मानवीय गतिविधि है, लेकिन जैसे ही हम किसी को पढ़ाने के लिए पढ़ते हैं तब हमारे लिए काम हो जाता है । जैसे ही गतिविधि काम हो जाती है वैसे ही हम अपने ही दुश्मन बन जाते हैं। हम हमेशा अपने को होड़ के योग्य बनाए रखने के चक्कर में फँस जाते हैं।

कुछ अन्य बिन्दु जिन पर बातचीत हुई– (1) हमारा मजदूर होना और इंसान होना, दोनों एक साथ सम्भव नहीं है। (2) सभ्य होना और मजदूर होना और अपने प्रति तथा दूसरों के प्रति मानवीय रह पाना सम्भव नहीं है। (3) सवाल यह नहीं है कि किस प्रकार के मजदूर हैं और किस तरह की नौकरी मिलती है? बल्कि हम मजदूर क्यों और कैसे बने? इस स्थिति का उन्मूलन कैसे हो? (4) मानवीय चेहरा लिए हुए सभ्यता या विकास एक मिथक है। (5)

सभ्यता और विकास का सुधार असम्भव है।

मार्क्स की रचनाओं से एक तर्क–आज तक जितनी भी क्रान्तियाँ हुई हैं, सरकारों में जो भी बदलाव हुए हैं, उन्होंने मात्र सत्ता और काम का पुनर्वितरण किया है, उनका उन्मूलन नहीं। जबकि असली सवाल यही है कि उसका उन्मूलन कैसे हो न कि पुनर्वितरण।–जर्मन विचारधारा, मार्क्स, 1846।

काम का बोझ और काम के घंटे इतने बढ़ गये हैं कि विभिन्न पीढ़ियों और तबकों का आपसी संवाद ही इस बात को सब के सामने लाएगा कि हमारी इस सामान्यीकृत बदहवासी वाली स्थिति के जिम्मेदार प्रमुख वजह एक ही है : हम सबों का मजदूर होना और होते जाना। जैसे-जैसे पढ़े-लिखे मजदूरों में आपसी होड़ बढ़ेगी स्वाभाविक तौर पर और भी शिक्षित लोग और भी कम पैसों पर और भी ज्यादा काम करने के लिए तैयार होंगे। अत: कुल मिला कर मजदूर इसी आधार पर जिन्दा रहता है कि वह किस प्रकार दूसरों का और अपना शत्रु बना रह सके।

असली सवाल–जब तक हम मजदूर बने रहेंगे तब तक जीवन बिताते ही रहेंगे। अत: असली सवाल यह है कि जीवन बिताने की जगह जीवन जीने के अनन्त तरीकों की खोज कैसे की जाए। क्योंकि यह निर्विवाद है कि हम सब के द्वारा मिलजुल कर खोजा जानेवाला यह रास्ता मात्र एक रास्ता और मात्र एक समाधान नहीं हो सकता।

मकसद–इस विभिन्न वर्गों और पीढ़ियों के आपसी संवाद का मकसद था कि जो वैचारिक सहमति के बिन्दु शासन की विचारधारा के लिए जरूरी हैं उन पर सवाल उठाये जाएँ। ये बिन्दु हैं काम, सभ्यता, करियर और प्रतिनिधित्व के सवालों पर सब की सहमति। हर कोई अपने परिवार मोहल्ले और अडोस-पड़ोस के आधार पर कर सके ताकि हम मिलजुल कर जीवन के असली सवाल की ओर बढ़ सकें।

जो कामकाजी दम्पत्ति हैं, जो शिक्षक हैं और टैक्सी चालक हैं सब का यही मानना था कि इस तरह के आपसी संवादों को पड़ोस और मोहल्लों में किया जाना चाहिए ताकि कुछ बातें हम सबों के सामने स्पष्ट हो सकें।

दिव्यराज अमीय से बातचीत पर आधारित इस मुद्दे पर विस्तृत सामग्री यहाँ देखी जा सकती है।
www.anhilal.com

❑

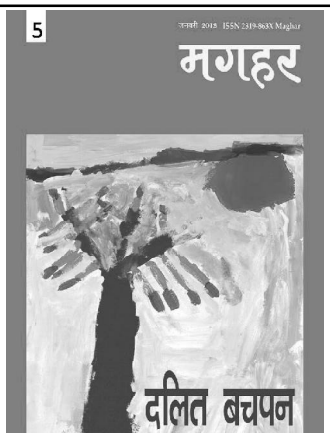

मगहर
प्रतिरोध, परिवर्तन और प्रगति की अनियतकालीन साहित्यिक पत्रिका

सलाहकार
नीलाभ, विनोद वर्मा

संपादक
मुकेश मानस

उप संपादक
अरुण कुमार प्रियम्

संपादन मंडल
रेणु हुसैन, कैलाश चंद चौहान
सईद अयूब, सोहन लाल

विशेष सहयोग
टेकचंद

प्रबंध सहायक
मनीष कुमार सिन्हा

संपादकीय कार्यालय
ए-2/128, सेक्टर-11, रोहिणी, दिल्ली-110085
फोन : 09560713852, 09873134564
ईमेल : magharindia@gmail.com

इस अंक के समस्त चित्र : खुशी, उम्र साढ़े चार साल

इस अंक के लिए सहयोग राशि : सौ रुपये
आजीवन सहयोग राशि : पांच हजार रुपये

संपादन व संचालन पूर्णतया अवैतनिक और अव्यावसायिक है। मगहर में प्रकाशित लेखकों के विचार उनके अपने हैं। उनसे संपादकीय सहमति अनिवार्य नहीं है। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लेखक या संपादक की अनुमति अनिवार्य है। मगहर से संबंधित सभी विवादस्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।

बचा रहेगा जीवन

वेद प्रकाश सिंह

'लौटेगा नहीं जीवन' कर्मेंदु शिशिर की कहानियों का संग्रह है। इन कहानियों में किस्सागोई और सत्यनारायण कथा की भाँति गाँव देहात की कल्पना, सच और सम्भावना में लिपटी कथाएँ भी कही गयी हैं। लोक भाषा और लोकोनुभव सभी कहानियों में विशेषत: लाखनडीह की ग्यारह कहानियों में सामने आता है। आज के दौर में कहानियाँ शहरी जीवन पर केन्द्रित होती गयी हैं। इनमें मध्यवर्गीय और कहीं-कहीं निम्नमध्यवर्गीय जीवन का चित्रण मिलता है। इधर की चर्चित कहानियों में संवेदना का सम्प्रेषण खिलंदड़े अन्दाज में हो रहा है अथवा अतिशय यातना के रूप में। कर्मेंदु शिशिर की कहानियाँ इन दोनों प्रचलित नुस्खों से बचने की कोशिश करती हैं।

संग्रह की ही एक कहानी 'कंबल' है। इसमें विषम अभाव और विकट ठंड का चित्रण है। यहाँ चित्रित शीत की दारुणता 'पूस की रात' कहानी की याद दिलाती है। यह संयोग ही है कि कंबल दोनों ही जगह नहीं है। सरजू भी कर्ज से दबा हुआ है और सोचता है कि अगर कुछ धन बच जाता तो वह एक कंबल जरूर खरीद लेता। कई साल से वह यही सोच रहा है। लेकिन ऐसा सम्भव नहीं हो पाता। फिर वह सोचता है कि अगहन तो बीत ही गया है। पूस भर और काटना है। 'पूस की रात' हो अथवा 'कंबल' ठंड से कष्ट भोगते अभाव ग्रस्त भारतीय किसान की स्थिति दशकों बाद भी जस की तस बनी हुई है। कर्मेंदु जी की एक कहानी रिक्सा चालक के परिवार पर है। इसमें वे रूपा और जग्गी की जवन कथा कहते हैं। जग्गी अभी-अभी बीमारी से उठा है। देह में जान तक नहीं बची, फिर भी रिक्सा खींचने निकल पड़ता है। घर में घोर अभाव और बुखार में तप्त बेटा नन्हका है। खाने को बासी रुखा-सूखा खाना। प्रभावित करने वाले ढंग से इस कहानी में निम्नवर्गीय जीवन में अभाव कैसे मृत्यु में पर्यवसित होता

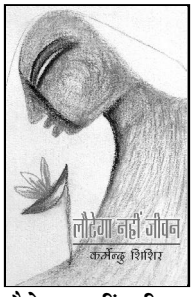

लौटेगा नहीं जीवन
कर्मेन्दु शिशिर
शिल्पायन, दिल्ली
मूल्य : ₹ 325

है, इसे दिखाया गया है। कुछ साल पहले एक बेटा बड़का मर चुका है। छोटा बेटा नन्हका भी अब उसी स्थिति में पहुँच गया लगता है। यहाँ स्थितियों की दारुणता है लेकिन बचने का कोई उपाय कहीं नज़र नहीं आता। इस कहानी का नाम 'प्रतीक्षा' है। जो सदा बनी रहती है।

निरुपायता की स्थितियाँ कर्मेंदु शिशिर की अधिकांश कहानियों में है। कंबल, प्रतीक्षा, डाँगर, फिदुरिया आदि कहानियों के साथ 'चेंगड़ा' और 'रक्तदाता' कहानियों में लोभ की अंधे दौड़ में उसके नीचे दबे लोगों की जीवन-स्थितियों को सामने लाया गया है। चोरी के काम में पुलिस और बड़े रसूख वाले लोग कैसे भटके हुए जरूरतमन्द युवाओं को इस धन्धे में फँसा के रखते हैं, इससे बाहर निकलने नहीं देते। यह 'चेंगड़ा' कहानी का कथ्य है। यह शोषण का ही एक रूप है। यह शोषण नाना रूपों में घटित होता है। ददना और जयन्ता कैसे निरुपाय होकर इसी धन्धो में न चाहकर भी यही करने की अभिशप्त हैं। 'रक्तदाता' कहानी में शहर में रक्त के व्यापार और खून बेचकर ज़िन्दा रहने की स्थिति को उजागर किया गया है। बीरु को रोजगार नहीं खून बेचकर जीने का रास्ता उसका मित्र दिखाता है। जब वह ऐसा करने से मना करता है तो डॉक्टर कहता है–''खून नहीं बेचना है तो जा! उठ भाग यहाँ से!'' यह पूँजीवादी विकास में व्यक्ति की निरुपायता को भुनाने का क्रूर तरीका है।

क्षेत्रीय शब्दों और व्यसनों का इस्तेमाल प्राय: सभी कहानियों में किया गया है। कहानियों को पढ़कर लेखक के क्षेत्र-विशेष की पहचान उसकी निजता को कहानियों में पहचाना जा सकता है। यह निजता सामूहिकता के साथ पहचान में आती है। आजकल जो कहानियाँ पढ़ने में आती है उन्हें किसी क्षेत्र-विशेष के साथ जोड़कर ऐसे नही देखा जा सकता। वे भाषा, संस्कृति, लोक व्यवहार में महानगरीय और वैश्विक होती जा रही हैं। कर्मेंदु शिशिर इस क्षेत्रीयता को प्रगतिशीलता का पूरक मानकर चलने वाले रचनाकार हैं। यह बात कहानी-संग्रह की अन्तिम ग्यारह कहानियों को देखकर भी कही जा रही है। लाखनडीह के लोक को, मिथकों को, अतीत को, उसमें छिपे शोषण, अन्धविश्वास, जातिवाद और उनसे बाहर आने के प्रसंगों को इन कहानियों में देखा-दिखाया गया है। प्राय: ये कहानियाँ बेदुआ पंडित द्वारा जमीन पर तीन रेखाएँ खींचते हुए ख़ास अन्दाज में कहलवाई गयी हैं। लाखनडीह इन कहानियों का रंगमंच लगता है। जहाँ एक के बाद दूसरी कहानी घटित होते हुए दिखाई जाती है। बेदुआ पंडित सूत्रधार और कमाल के किस्सागो हैं। किसी कहानी में 'लाखो' की ज़िन्दगी के बारे में बताते हैं तो किसी और में 'बुलाको देई' की गाथा बयान करते हैं। कहीं भुआल काका की बात की जाती है–कैसे भुआल काका अपनी जान देकर भी डकैतों से लाखनडीह की मरजाद के लिए दुश्मनी छोड़कर शत्रु-घर की औरतों की रक्षा करते हैं।

लेखक जामिया मिल्लिया इस्लामिया में शोधार्थी हैं।
+919968323682

❑